THE JAINA *Antiquary*

VOL. 42 NO. 2 DEC. 1989

विदेह क्षेत्र में श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य की अत्यन्त लघु काया अपनी हथेली पर रखे हुए आश्चर्यचकित वहाँ का एक विशालकाय युगल।

निदेशक : महावीर प्रसाद चित्रकार : सुबोध कुमार जैन

श्री जैन सिद्धान्त भास्कर

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हिन्दी समयसार

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार [गतांक से आगे]

रूपांतरकार–सुबोध कुमार जै

कर्म जो पूर्व कृत शुभाशुभ, अनेक-विस्तार विशेष ।
उनसे छुड़ाता आत्मा ही को जो, सो 'प्रतिक्रमण' ॥३८३॥

कर्म जो शुभ अशुभ जिस भाव से बंधता भविष्य में ।
उनसे छुड़ाता जो सो, 'प्रत्याख्यान' को होता चेता ॥३८४॥

जो शुभाशुभ उदय में वर्त्तमान, अनेक विस्तार विशेष ।
वे दोष जो अनुभवे, सो ही 'आलोचना चेता' ॥३८५॥

नित्य प्रत्याख्यान करता, नित्य व प्रतिक्रमण को जो ।
नित्य आलोचना करे, सो ही चारित्र को हो चेता ॥३८६॥

भोगते कर्म फल को, आत्मा में करे जो कर्म फल को ।
सो उसे फिर भी बांधे, बीज दु:ख के, आठ विधि ॥३८७॥

भोगते कर्म फल को, मैंने किया, माने जो कर्म फल को ।
सो उसे फिर भी बांधे, बीज दु:ख के, आठ विधि ॥३८८॥

भोगते कर्म फल को, सुखी वा दु:खित होता है जो चेता ।
सो उसे फिर भी बांधे, बीज दु:ख के, आठ विधि ॥३८९॥

शास्त्र ज्ञान न होता है, क्योंकि, शास्त्र न जाने कुछ भी ।
ततः 'ज्ञान-अन्य, सत्य अन्य'–जिन कहे ॥३९०॥

शब्द ज्ञान न होता है, क्योंकि शब्द न जाने कुछ भी ।
ततः 'ज्ञान अन्य, शब्द अन्य'–जिन कहे ॥३९१॥

रूप ज्ञान न होता है, क्योंकि, रूप न जाने कुछ भी ।
ततः 'ज्ञान अन्य, रूप अन्य'–जिन कहे ॥३९२॥

वर्ण ज्ञान न होता है, क्योंकि, वर्ण न जाने कुछ भी ।
ततः 'ज्ञान अन्य, वर्ण अन्य'–जिन कहे ॥३९३॥

गंध ज्ञान न होता है, क्योंकि, गंध न जाने कुछ भी ।
ततः 'ज्ञान अन्य, गंध अन्य'–जिन कहे ॥३९४॥

न रस ही होता है ज्ञान, क्योंकि, रस भी न जाने कुछ भी ।
ततः 'ज्ञान अन्य व रस अन्य'–जिन कहे ॥३९५॥

स्पर्श न होता है ज्ञान, क्योंकि स्पर्श न जाने कुछ भी ।
ततः 'ज्ञान अन्य, स्पर्श अन्य'–जिन कहे ॥३९६॥

कर्म ज्ञान न होता है, क्योंकि, कर्म न जाने कुछ भी ।
ततः 'ज्ञान अन्य, कर्म अन्य'–जिन कहे ॥३९७॥

जैन सिद्धान्त भास्कर

जैनपुरातत्व सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

वि० सं० २०४६ वीर निर्वाण सं० २५१६

दिसम्बर १९८९

भाग-४२ किरण-२

सम्पादक मण्डल

डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, डा० राजाराम जैन

डा० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', डा० शशिकान्त

डा० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार,

प्रकाशक

अजय कुमार जैन मंत्री

श्री देवकुमार जैन ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट

श्री जैन सिद्धान्त भवन,

आरा, बिहार

वार्षिक शुल्क (भारत में)—५०) एक प्रति—२५)

वार्षिक शुल्क (विदेश में)—७५) एक प्रति—३५)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विषय-सूचि

लेख— पृष्ट संख्या

१. "वसुदेव हिण्डी" और उसमें वर्णित अंग और मगध-जनपद —डा० श्री रंजन सूरिदेव १

२. अनुसन्धान की कार्य-प्रणाली, विदेशी जन विद्वानों के संदर्भ में —डा० जगदीशचन्द्र जैन १७

३. ब्राह्मण-पुराण में पाञ्चाल-ऐतिहासिक दृष्टि—डा० अरूणलता जैन २६

४. पं० प्र० बाबू प्रभुदास जी स्मृति लेख माला-७
कौशाम्बी (गढ़वा) मन्दिर का आधुनिक इतिहास-सुबोधकुमार जैन ३३

५. योग परम्परा में आचार्य हरिभद्र का योगदान-डा० (कु०) अरुणा आनन्द ३६

६. आचार्य अमृतचन्द्र सूरिकृत समयसार टीका का दार्शनिक अनुशीलन— — डा० नागेन्द्र मिश्र ४४

७. शाकाहारी बनने की अपील —अलहफीज वशीर अहमद मसेरी ५०

८. नाग जाति और नाग भाषा- —श्री गणेश प्रसाद जैन ५३

९. साहित्य समीक्षा— ५८

१०. पं० प्रवर बाबू प्रभुदास जी स्मृति लेखमाला-८ —सु० कु० जैन ६१
दुधारस कथा की हस्तलिखित १ प्रति

११. जैन संस्कृति के संरक्षण में जैन सिद्धान्त भवन की भूमिका —डा० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार, ६२

१२ जैन विद्यापत्राचार पाठ्यक्रम का ऐतिहासिक शुभारम्भ ६६

१३ अहिच्छत्रा की खोज व खुदाई —शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी ६७

अन्यान्य :—

नैतिक और मूल्य परक शिक्षा ३२

हिन्दी समयसार —सुबोध कुमार

(समापन) गाथा-३८३/४१५ कवर पृष्ठ २-३

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

'वसुदेवहिण्डी' और उसमें वर्णित अंग और मगध-जनपद

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव

'वसुदेवहिण्डी' : एक परिचय

आचार्य संघदासगणिवाचक (अनुमानतः ईसा की तृतीय-चतुर्थशती) भारतवर्ष के प्रमुख कूटस्थ गद्यकारों में अन्यतम हैं। उनकी उल्लेखनीय प्राकृत-भाषानिबद्ध गद्यात्मक कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' की उपलब्धि इसलिए महत्व-पूर्ण घटना है कि इससे महाकवि गुणाढ्य की पैशाची-भाषा में परिगुम्फित 'बृहत्कथा' (वड्ढकहा) के अज्ञात मूल स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। गवेषणापटु विद्वानों में अग्रगण्य प्रो० लुडविग आॅल्सडोर्फ (हैम्बुर्ग युनिवर्सिटी, प० जर्मनी के प्राच्यविद्या-विभागाध्यक्ष, अब स्वर्गीय) एवं डॉ० जगदीश चन्द्र जैन, पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष, रामनारायण रुइया कॉलेज, बम्बई आदि ने इस कथा-ग्रन्थ को "बृहत्कथा" का प्राकृत जैन रूपान्तर कहा है।[1] किन्तु, इसे हम "बृहत्कथा का प्राकृत नव्योद्भावन" कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में यह प्राकृत की "बृहत्कथा" है। इस सन्दर्भ में प्राच्यविद्यामनीषी डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का यह कथन यथार्थ है कि गुणाढ्य की "बृहत्कथा" अपने युग में बाल्मीकि-कृत 'रामायण' और व्यासकृत 'महाभारत' के समान अपने देश के काव्य और कथा-साहित्य पर छाई हुई थी, जो आज काल के विशाल अन्तराल में जाने कहाँ विलीन हो गयी[2]। इसलिए, उक्त कृति के उत्तरकालीन रूपान्तरों, वाचनाओं या नव्योद्भावनों से ही इसकी विषय-वस्तु के संबंध में कुछ कड़ियाँ जोड़नी पड़ती हैं।

गुणाढ्य की "बृहत्कथा" केवल 'वसुदेवहिण्डी' का ही मूलाधार नहीं है, अपितु 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' (बुधस्वामी), 'कथासरित्सागर' (सोमदेवभट्ट) और "बृहत्कथामंजरी" (क्षेमेन्द्र) का आधारोपजीव्य है। इसीलिए, सोमदेव

---

१ द्र० डॉ० जगदीशचन्द्र जैन द्वारा संपादित "दि वसुदेवहिण्डी: एन् आॅथेण्टिक जैन वर्सन आॅव दि बृहत्कथा।" (भूमिका-भाग)

२ द्र० "कथासरित्सागर" (मूल सह हिन्दी-अनुवाद, प्रथम खण्ड) की भूमिका, प्र० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ने कथासरित्सागर की अन्तिम प्रशस्ति में "बृहत्कथा" को विविध कथाओं के अमृत का आगार कहा है।[1] बुधस्वामी (अनुमानतः ईसा की द्वितीय-तृतीय शती) नेपाल के निवासी थे, इसलिए उनके द्वारा रचित "बृहत्कथाश्लोकसंग्रह" को बृहत्कथा की "नेपाली वाचना" कहा गया है। इसी प्रकार, क्षेमेन्द्र और सोमदेवभट्ट कश्मीर के राजा अनन्त वर्मा (ईसा की १०-११वीं शती) के राज-दरबार के सारस्वत रत्न थे। राजा अनन्त की रानी सूर्यमती कथा सुनने में बहुत रस लेती थी। अतएव, रानी के लिए क्षेमेन्द्र और सोमदेव ने "बृहत्कथा" के आधार पर क्रमशः "बृहत्कथा-मंजरी" एवं "कथासरित्सागर" की रचना की। इसलिए, उक्त दोनों कथाग्रन्थों को "बृहत्कथा" की कश्मीरी वाचना कहा गया है। और फिर, 'वसुदेवहिण्डी" "बृहत्कथा" के उक्त नेपाली नव्योद्भावना-"बृहत्कथाश्लोकसंग्रह" का परवर्त्ती या कनीय समकालीन तथा उक्त कश्मीरी नव्योद्भावनों-"बृहत्कथामंजरी" तथा "कथासरित्सागर" के पूर्ववर्त्ती, जैनाम्नाय पर आवृत प्राकृत-नव्योद्भावन है।[2]

"बृहत्कथा" की उक्त संस्कृत-वाचनाएँ श्लोकों में निबद्ध हैं और उनके कथानायक उज्जयिनी के राजकुमार नरवाहनदत्त हैं; किन्तु प्राकृत-वाचना—'वसुदेवहिण्डी" प्राकृत-गद्य में परिबद्ध है, साथ ही प्रसंगवश कतिपय गाथायें भी उपन्यस्त हैं। और फिर, उसमें नरवाहनदत्त के स्थान पर द्वारकापुरुष वसुदेव (कृष्ण के पिता) को चरित-नायक का गौरव प्रदान किया गया है। इस प्रकार, प्रांजल प्राकृत-गद्य की भूमि पर, परिवर्तित कथानायक और नव्यता के साथ उपस्थापित कथा की दृष्टि से यह कथाकृति "मौलिक" या "नव्योद्भावन" शब्द को सर्वथा सार्थक करती है। संस्कृत-वाचनाओं की कथा के अनुसार नायक नरवाहनदत्त अपने प्रत्येक पराक्रम के बाद अन्त में एक-एक सुन्दरी से विवाह करता है। इस प्रकार, प्रत्येक पराक्रम की कथा के अन्त को गुणाढ्य ने "लम्भ" (लाभ) की संज्ञा दी होगी, इसीलिए बुधस्वामी और आचार्य संघदासगणी ने भी "लम्भ" या "लम्भक" की ही पद्धति स्वीकृत की है पर क्षेमेन्द्र और सोमदेव ने "लम्बक" शब्द को अपनाया है।

"वसुदेवहिण्डी" के युगचेतना सम्पन्न कथालेखक ने सच्चे अर्थ में 'बृहत्कथा' की अविच्छिन्न परंपरा को नई दिशा देकर उसे सातिशय उर्जस्वल और प्राणवाहिनी धारा से ततोऽधिक गतिशील बनाया है। आचार्य संघदास-

---

१. नानाकथामृतमयस्य बृहत्कथायाः सारस्य सज्जनमनोऽम्बुधिपूर्णचन्द्रः।
सोमेन विप्रवर-भूरिगुणाभिरामात्मजेन विहितः खलु संग्रहोऽयम्॥

२ विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का अप्रकाशित शोध-प्रबंध "वसुदेवहिण्डी" : भारतीय संस्कृति की बृहत्कथा (मनन और मीमांसा)।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

गणी परंपरा के अन्धानुगामी नहीं; अपितु परंपरा और अपरंपरा के समन्वयकारी कलासाधक हैं। वह सही माने में अनेकान्तवादी विचारक हैं। इसीलिए, उन्होंने जैनाम्नाय के प्रति न तो कभी दुराग्रहवादी प्रचारात्मक दृष्टिकोण अपनाया है, न ही जैनेतर आम्नायों की विकृतियों और विशेषताओं के उद्भावन में पक्षपात का प्रदर्शन किया है। कथा की ग्रथन कला में एक कथाकार के लिए जो निर्वैयक्तिकता या माध्यस्थ्य अपेक्षित होता है, संघदासगणी में वह भरपूर है और वह यथार्थतः कला की तन्मयता की मधुमती भूमिका में स्थित साधारणीकृत भाव चेतना-लोक के कलाकार हैं। लोकसंग्रह की भावना और अगाध वैदुष्य दोनों की मणिप्रवाल-शैली के मनोहारी दर्शन उनकी युर्वविजयिनी कथाकृति वसुदेवहिण्डी में सर्वत्र सुलभ है।

जैन साहित्येतिहास के अनुसार वर्गीकृत "प्रथमानुयोग" के साहित्य के अन्तर्गत संस्कृतनिबद्ध चरित्रग्रन्थों में उल्लेख्य हेमचन्द्र-कृत "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित" में 'नेमिनाथचरित" के अन्तर्गत वसुदेव का चरित चित्रित हुआ है। उसमें भी "जैन बृहत्कथा" की रूपरेखा परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त, श्रीकृष्ण की प्राचीन कथाओं से सम्बद्ध जैनकथाग्रन्थों में भी "बृहत्कथा" का संक्षिप्त सार या नव्योद्भावन प्राप्त होता है। किन्तु, संघदासगणीकृत 'वसुदेवहिण्डी" ने तो अपने विस्तार और विषय-वैविध्य के कारण "जैन बृहत्कथा" की परंपरा में क्रान्तिकारी या युगान्तरकारी परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया। जैनागम-भाष्यों में अन्यतम "आवश्यकचूर्णि", में इस ग्रन्थ के उल्लेख से इस कृति की कथा की विपुल व्यापकता का अनुमान सहज संभव है।[1] इस कथाग्रन्थ की संस्कृत-तत्समप्रधान प्राचीन प्राकृत-भाषा से भी इसके रचनाकाल की प्राचीनता की सूचना मिलती है। कहना न होगा कि इस महान कथाग्रन्थ की रुचिरता की ख्याति ई० प्रथम शती से छठी शती तक समान भाव से अनुध्वनित होती रही।

इस संदर्भ में ज्ञातव्य है कि तमिल-साहित्य के इतिहास में "वसुदेवहिण्डी" के तमिल-रूपान्तर "वसुदेवनारसिन्दम्" (वसुदेव, नार-का, सिन्दम्-हिण्डन) का भी उल्लेख प्राप्त होता है[2]। और फिर, कन्नड-साहित्य के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि राजा दुर्विनीत (सन् ६०० ई०) ने गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' का संस्कृत-रूपान्तर प्रस्तुत किया था, किन्तु दुर्भाग्यवश अब वह

---

१. द्र० "प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री प्र० तारा प्रकाशन वाराणसी, सन् १९६६ ई०, पृ०४५६।

२. द्र० "हिस्ट्री ऑव तमिल लिटरेचर"। एस०बी० पिल्लई, मद्रास, सन् १९५९ ई०।

Ac. Gunratnasuri MS 	Jin Gun Aradhak Trust

उपलब्ध नहीं होता[१]। इस संक्षिप्त सूचना से यह स्पष्ट है कि 'बृहत्कथा' का प्राकृत-रूपान्तर 'वसुदेवहिण्डी' की हृदयावर्जक और लोकप्रिय कथा की व्यापकता उत्तर और दक्षिण भारत में समान रूप से बनी हुई थी। सम्प्रति, विदेशों के विभिन्न विश्वविद्यालयों (जैसेः—कील युनिवर्सिटी, शिकागो युनिवर्सिटी, कैनबरा युनिवर्सिटी आदि) में भी इस कथाकृति के विभिन्न पक्षों पर शोधकार्य हो रहा है[२]। नार्वेजियन भाषा में भी इसका अनुवाद हुआ है[३]। प्राकृत साहित्य के मर्मज्ञ **डॉ० जगदीश चन्द्र जैन** ने लिखा है कि "इधर" "वसुदेवहिण्ही" को लेकर भारत के बाहर विदेशों में शोध कार्य में वृद्धि हो रही है।"[४]

इस प्रकार, "बृहत्कथा" की परंपरा में "वसुदेवहिण्डी" अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। गुणाढ्य से सोमदेव तक की सुदीर्घ भारतीय कथा-परम्परा के विस्तृत भौगोलिक क्षितिज पर "वसुदेवहिण्डी" का ज्योतिर्मय भावभास्वर उदय नितान्त विस्पराजनक है, जिसकी प्रभावान्विति से प्राचीन भारतीय कथा-वांगमय आपनततः अनुप्रमाणित है।

मूल "वसुदेवहिण्डी" की यथाप्राप्य प्रति छह् अधिकारों (कथोत्पत्ति पीठिका, मुख, प्रतिमुख, शरीर और उपसंहार) एवं अठाईस लम्भों में निवद्ध है, जिनमें उन्नीसवाँ और बीसवा लम्भ तथा उपसंहार, अप्रप्य हैं। "शारीर" भी खण्डित है।

जैन परम्परानुसार "बसुदेवहिण्डी" में श्रीकृष्ण की प्राचीन कथा के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की कथा की आयोजन इस प्रकार हुई है। रूपवान् एवं प्रचण्ड पराक्रमी तथा सुकलकला कुशल वसुदेव ने अपने बड़े भाई से रूष्ट होकर घर (द्वारकापुरी) छोड़ दिया और वह देश-देशान्तर-सम्पूर्ण भारत का परिभ्रमण (हिण्डन) करने लगे। इसी क्रम में उन्होंने नरवाहनदत्त की भाँति विविध पराक्रम प्रदर्शित किये और विद्याधरी तथा मानवी जाति

१. द्र० "कन्नड-साहित्य का इतिहास" : आर० नरसी वांचा, बेल्लूर।

२. द्र० "दि वसुदेवहिण्डी : एन् आथेण्टिक जैन सर्वेन", पूर्ववत्, (भूमिकाभाग)।

३. द्र० इन पंक्तियों के लेखक द्वारा प्रस्तुत वसुदेवहिण्डी" के मूल-सह-हिन्दी-अनुवाद की डॉ० रसिकबिहारी जोशी, संस्कृत विभागाध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा —लिखित भूमिका पं० रामप्रताप शास्त्री चेरिटेबुल ट्रस्ट, व्यावर (राजस्थान से शीघ्र प्रकाश्य)।

४. द्र० साध्वीरत्नश्री पुष्पवती-अभिनन्दन-ग्रन्थ में डॉ० जगदीशचन्द्र जैन का लेख "अनुसन्धान की कार्यप्रणाली : विदेशी जैन विद्वानों के संदर्भ में, चतुर्थ खण्ड, पृ० १८१ प्र० श्रीतारकगुरू जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

इस प्रकार "बृहत्कथा" की परंपरा में "वसुदेवहिण्डी" अपना महत्व-पूर्ण स्थान रखती है। गुणाढ्य से सोमदेव तक की सुदीर्घ भारतीय कथा-परम्परा के विस्तृत भौगोलिक क्षितिज पर 'वसुदेवहिण्डी" का ज्योतिर्मय भाव-भास्वर उदय नितान्त विस्मयजनक है, जिसकी प्रभावान्विति से प्राचीन भारतीय कथा-वांगमय आपाततः अनुप्राणित है।

मूल 'वसुदेवहिण्डी" की यथाप्राप्य प्रति छह अधिकारों (कथोत्पत्ति पीठिका, मुख, प्रतिमुख, शरीर और उपसंहारों) एवं अट्ठाईस लम्भों में निबद्ध है, जिनमें उन्नीसवां और बीसवाँ लम्भ तथा उपसंहार, अप्राप्य हैं। "शरीर" भी खण्डित है।

जैन परम्परानुसार, "वसुदेवहिण्डी" में श्रीकृष्ण की प्राचीन कथा के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की कथा की आयोजना इस प्रकार हुई है :— रूपवान एवं प्रचण्ड पराक्रमी तथा सुकलकला कुशल वसुदेव ने अपने बड़े भाई से रुष्ट होकर घर (द्वारकापुरी) छोड़ दिया और वह देश-देशान्तर-सम्पूर्ण भारत का परिभ्रमण (हिण्डन) करने लगे। इसी क्रम में उन्होंने नरवाहनदत्त की भाँति विविध पराक्रम प्रदर्शित किये और विद्याधरी तथा मानवी जाति की अट्ठाईस पत्नियाँ प्राप्त कीं। अन्तिम पत्नी के रूप में उन्होंने देवकी को प्राप्त किया। इसके पूर्व रोहिणीलम्भ में रोहिणी पत्नी की प्राप्ति के क्रम में रोहिणी के पिता राजा रुधिर द्वारा आयोजित स्वयंवर में ही अकस्मात् वसुदेव का, अपने बड़े भाई समुद्रविजय से मिलन हो गया। समुद्रविजय भी उस स्वयंवर में भाग लेने आये थे। समुद्रविजय ने वसदेव को बहुत समझाया-बुझाया। उसके बाद वसुदेव अपनी सभी पत्नियों को उनके मायके से साथ लेकर द्वारकापुरी लौट आये और वहाँ अपने कुटुम्बी जनों के साथ मिलकर पूर्ववत रहने लगे। वसुदेव के परिभ्रमण की अवधि एक सौ वर्ष की थी। इस सन्दर्भ की कथा इस प्रकार है।

प्रद्युम्न (श्रीकृष्ण से उत्पन्न रुक्मिणी-पुत्र) ने अपने पितामह वसुदेव से पूछा। "दादा आपने सौ वर्ष परिभ्रमण करते हुए हमारे लिए दादियाँ प्राप्त कीं, किन्तु शाम्ब (कृष्णपत्नी जाम्बवती का पुत्र) का परिभोग देखिए कि उसे सुभानु (कृष्णपत्नी सत्यभामा का पुत्र) के लिए एकत्रित आठ सौ कन्याएँ अनायास-प्राप्त हो गयीं। इस बात पर वसुदेव ने कहा : "भ्रमणकाल में मैंने जो सुख-दुख अनुभव किये हैं, वे दूसरे व्यक्ति के लिए दुष्कर होंगे"। तब प्रद्युम्न ने कहा : "दादा मुझपर कृपा कीजिये और आपने जिस प्रकार हिण्डन कियाहै, उसे बताइये।" इसके बाद वसुदेव ने अक्रूर, अनाधृष्टि, बलराम,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कृष्ण आदि सबको बुलवाया और अपना हिण्डन-वृतान्त कहने लगे। इसीलिए इस कथाग्रन्थ का नामकरण 'वसुदेवहिण्डी' यानी "वसुदेव का परिभ्रमण" (हिण्डी-हिण्डन-परिभ्रमण या यात्रा) हुआ है[1]।

ध्यातव्य है कि "बृहत्कथा" की पूर्वोक्त नेपाली और कश्मीरी वाचनाओं से सर्वथा विलक्षण प्राकृत-वाचना "वसुदेवहिण्डी" के रूप में उपलब्ध हुई है, जिसने आश्चर्यजनक ढंग से देश-देशान्तरों के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। प्राच्यविद्या के उपासक जर्मन विद्वान डॉ० ऑल्सडोर्फ[2] का मन्तव्य है कि "बृहत्कथा निस्सन्देह प्राचीन भारतीय साहित्य का रसमय और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस लुप्त ग्रन्थ के वास्तविक "प्रकार" के निर्धारण और पुनर्गठन के कार्य में "वसुदेवहिण्डी" से पर्याप्त सहायता की उपलब्धि संभव है, क्योंकि इसके रचयिता संघदासगणी ने कथा के विकल्प और विषयवस्तु को अपनी कल्पनाशक्ति से अतिशय विमोहक रूप प्रदान किया है और उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त के अदभुत पराक्रम को कृष्ण के पिता वसुदेव पर आरोपित करके प्राचीन कथा-परंपरा को एक नवीन आयाम दिया है।

संरचना की दृष्टि से अनेक विस्मयकारी और कौतूहलवर्द्धक, बहुत हद तक रोचक और ज्ञानोन्मेषक भी, अन्तः कथाओं और अवान्तर कथाओं से संवलित किसी प्रवल पुरुषार्थी और प्रचण्ड पराक्रमी राजा या राजपुत्र की बड़ी कथा ही "बृहत्कथा" के नाम से अभिहित हुई है। वसुदेवहिण्डी की संरचना की बृहत्कथा शैली में की गयी है। भारतीयेतर देशों में 'सहस्ररजनीचरित्र" (अरेबियन नाइटस टेल), अलिफलैला की कहानी, हातिमताई का किस्सा आदि बृहत्कथाओं की परम्परा रहती आई है। आधुनिक हिन्दी में भी श्रीदेवकीनंदन खत्री की ऐयारी या तिलिस्मवाले उपन्यास "चन्द्रकान्ता" और 'चन्द्रकान्तासन्तति" 'बृहत्कथा" के ही नव्योद्भावन हैं। भले ही इनके चरितनायक उदयन या नरवाहनदत्त के बदले दूसरे ही क्यों न हों। 'बृहत्कथा"

---

१ 'वसुदेवहिण्डी'. प्रतिमुख पृ० ११०।

२ डॉ० ऑल्सडोर्फ के मन्तव्य की विशदता के लिए प्रो० भोगीलाल ज० साण्डसरा-कृत "वसुदेवहिण्डी" के गुजराती अनुवाद की भूमिका द्रष्टव्य है। इसमें उन्होंने डॉ० ऑल्सडोर्फ के "ऐइन नेवे वर्सन डर वर्लोरेनेन बृहत्कथा डस गुणाढ्य" ए न्यू वर्सन ऑव द लॉस्ट बृहत्कथा ऑव गुणाढ्य शीर्षक निबंध का गुजराती-अनुवाद श्री रसिकलाल पारीख ने किया था, और उसका संक्षिप्त हिन्दी-रूपान्तर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'कथासरित्सागर" (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्-संस्करण) के प्रथम खण्ड की भूमिका में अपने विवेचन के क्रम में प्रस्तुत किया है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विराट उपन्यास का ही नामान्तर है। 'वसुदेवहिण्डी" की एक ध्यातव्य विशेषता है कि यह "बृहत्कथा" की परंपरा का नव्योद्भावन होते हुए भी गुणाढ्य की बृहत्कथा का प्रतिरूप नहीं है। किन्तु, बृहत्कथा की परम्परा में एक युगपरिवर्त्तक जैन प्राकृत-नव्योद्भावन अवश्य है, जो 'बृहत्कथा" के प्राचीन रूपान्तर के साथ आधाराधेय भाव से जुड़ा हुआ है। इस कथाग्रन्थ में बृहत्कथा की वस्तु को श्रीकृष्ण की प्राचीन कथा के आधार पर गुम्फित किया गया है। ग्रथन-कौशल से ही इस कथाकाव्य में नव्यता आ गई है।

जैनवांगमय के सुपरिचित जर्मन अधीती श्रीयाकोबी के मतानुसार जैनों में कृष्ण की कथा ईसवी सन् ३०० वर्ष पूर्व अस्तित्व में आ चुकी थी। श्रीयाकोबी मानते हैं कि ईसवी सन् के प्रारंभ तक जैनपुराणकथा सम्पूर्णता की स्थिति में आ गई थी[१]। इस सन्दर्भ में महाकवि विमलसूरि का पउमचरिय (पद्मचरित: रामकथा) उल्लेखनीय है। जैनों ने जिस समय "बृहत्कथा" को अपनी पुराणकथा के कलेवरों में सम्मिलित किया था, उस समय वह "बृहत्कथा" एक प्रसिद्ध कवि की कृति होने के अतिरिक्त देवकथा की भव्यता से प्रभास्वर, प्राचीन युग की रचना मानी जाने लगी थी, जिसकी महत्ता पुराणों एवं महाकाव्यों के समान हो गई थी। इसीलिए 'बृहत्कथा" के जैन प्राकृत नव्योद्भावन 'वसुदेवहिण्डी" से मूल बृहत्कथा के रचनाकाल की शतियों प्राचीनता को लक्ष्य कर डॉ० बूलर ने गुणाढ्य का समय ईसवी सन् की पहली या दूसरी शती और पेरिस के फ्रेंच विद्वान प्रो० लाकोत ने तीसरी शती माना है। इस संदर्भ में डॉ० ऑल्सडोर्फ का यह मत कि गुणाढ्य को यदि बहुत प्राचीन समय में कहीं, तो उसे ईसवी–सन् की पहली या दूसरी शती-पूर्व में मानना चाहिए, अन्यथा नहीं[२]।

'बृहत्कथा" की कथाविभूति की प्रभा से नव्योद्भासित "वसुदेहिण्डी" प्राकृत और संस्कृत की अनेक कथाओं का आधारादर्श है। प्राकृत-कथासाहित्य का मौलिमुकुट "वसुदेवहिण्डी" न केवल उत्तरकालीन आख्यायिकाओं के लिए प्रेरणास्रोत है, अपितु समस्त भारतीय यात्रा-वृत्तान्त-साहित्य की ही आधारशिला है। "वसुदेवहिण्डी" न केवल प्राकृत-कथासाहित्य के लिए, वरं च संपूर्ण कथा-वांगमय के लिए गौरवग्रन्थ है। क्योंकि इसमें वैसी भारतीय सभ्यता चित्रित हुई है, जिसके अन्तरंग में वर्त्तमान आभ्यान्तर चेतना, यानी

१. द्र० "पउमचरिय का याकोबी द्वारा संपादित तथा सन् १९१४ ई० में भावनगर (गुजरात) से प्रकाशित संस्करण।

२ विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य: प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का पूर्वोक्त शोध प्रबन्ध (अप्रकाशित)।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

संस्कृति भी परिलक्षित होती है। सच पूछिये तो "वसुदेवहिण्डी" भारतीय संस्कृति का प्रतीक-कथाकाव्य है, जिसमें न केवल भारत की, अपितु बृहत्तर भारत की उदात्ततम संस्कृति मूर्त्त हो उठी है।

भारतीय सभ्यता के इतिहास के जिस युग में इस देश की विशिष्ट संस्कृति सबसे अधिक अभिव्यक्त हुई थी, उसी युग में संघदासगणिवाचक वर्त्तमान थे। वह कालिदास की तरह भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग के कथाकार कवि थे। कालिदास महाराजा विक्रम के समसामयिक थे या गुप्तों के, यह इसलिए विशेष महत्वपूर्ण विवाद का विषय नहीं है, क्योंकि विक्रम से गुप्तों तक का समय (न कि केवल गुप्तों का, जैसा साधारणतः इतिहासकार मानते हैं) भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग था। इस युग की सभ्यता और संस्कृति साहित्य में ही नहीं अपितु ललित, वास्तु और स्थापत्य आदि विभिन्न कलाओं में परिपूर्णता के साथ व्यक्त हुई है। संघदासगणिवाचक इस युग के श्रेष्ठ गद्यकवि थे और उन्होंने समय की वाह्य वास्तविकता, अर्थात् सभ्यता का चित्रण तो किया ही है, साथ-ही-साथ उसकी अन्तरंग चेतना का भी, जिसे हम संस्कृति कह सकते हैं, मनोहारी समाहार प्रस्तुत किया है।

आचार्य संघदासगणी ने अपनी कालजयी कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' में भारत की जिस आभ्यन्तर चेतना या अध्यात्मभावना का चित्रण किया है, उसमें प्रवृत्तियों का समन्वय अभीष्ट रहा है, और किसी भी दिशा में वह निषेधमूलक नहीं है। न कि केवल अनेक जातियों के सम्मिश्रण आदि के कारण, अपितु अनिषेधमूलकता के अर्थ में ही भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक है जो किसी भी देश की सभ्यता का अविवार्य तथ्य होता है। कथाकार ने यदुवंशियों को इसी सांस्कृतिक आदर्श के प्रतीक के रूप में देखा है। धर्मशास्त्रों में बार-बार उद्घोषित पुरुषार्थचतुष्ट्य के आयत्तीकरण के निमित्त सदाचेष्ट यदुवशियों की आदर्श प्रतीक-कथा के माध्यम से मानव-जीवन के मूल्यों के विषय में 'वसुदेवहिण्डी' अपना विशिष्ट दृष्टिकोण उपस्थित करती है. इसलिए यह मानव-संस्कृति की सर्वथा नवीन एवं अतिशय उदात्त और अद्वितीय ललित कथा है। दूसरे शब्दों में, यह भारतीय संस्कृति का महार्णव है।

कालजयी कथाकार आचार्य संघदासगणी ने भारतीय संस्कृति के महार्णव-स्वरूप 'वसुदेवहिण्डी" में भारतीय संस्कृति के वर्णन-विस्तार के क्रम में प्राचीन भारत के सोलह महाजन पदों के वर्णन-क्रम में अंग-जनपद और मगध-जनपद के वर्णन में ततोऽधिक आग्रह प्रदर्शित किया है। कहना न होगा कि प्राचीन भारत में इन दोनों जनपदों की राजनीतिक और सांस्कृतिक भूमिका का ऐतिहासिक महत्व सर्वस्वीकृत है। संघदासगणी द्वारा उपन्यस्त

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जनपद, नगर, ग्राम, सन्निवेश आदि के वर्णनों से तत्कालीन भौगोलिक अवस्थिति का ज्ञान तो होता ही है, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थिति का भी पता चलता है। भारत के प्रसिद्ध प्राचीन सोलह महाजनपदों में संघदासगणी ने दस जनपदों का वर्णन किया है : अंग, अवन्ती, काशी, कुरू, कोशल, गन्धार वेदि, मगध, वत्स और शूरसेन। कथाकार ने इनके अतिरिक्त और भी कई प्राचीन स्थानों का जनपद के नाम से उल्लेख किया है। जैसे : आनर्त्त, कुशार्थ (कुशावर्त्त), सुराष्ट्र, शुकराष्ट्र, उत्कल, कामरूप, कोंकण, खस- चीनस्थान, चीनभूमि, यवन टंकण, बर्बर, विदर्भ, शालिग्राम, सिंहलद्वीप, सिन्धु, सुकच्छ, श्वेता और हूण। इन जनपदों के वर्णन-क्रम में कथाकार ने शताधिक नगरों का निर्देश किया है, साथ ही इनके अन्तर्वर्त्ती बीस ग्रामों का भी उल्लेख किया है जिनमें कतिपय सन्निवेश, कर्बट और खेट कोटिके ग्राम या वस्तियाँ थीं। उक्त सभी जनपदों, नगरों आदि में कुछ के तो केवल नामों का उल्लेख मिलता है और कुछ के वर्णन-विवरण भी, जिनसे उनके भौगोलिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं धार्मिक वैशिष्ट्यों की सूचना मिलती है। प्रस्तुत निबंध, शीर्षक के अनुसार विहार के अंग और मगध, इन दो जनपदों के वर्णन में सीमित है।

अंग-जनपद

कथाकार संघदास गणि द्वारा कथा प्रस्तुत वर्णन से तत्कालीन अंग-जनपद की कई सांस्कृतिक विशेषताओं की सूचना उपलब्ध होती है। प्राचीन अंग-जनपद में गाय-भैंस पालनेवाले गोपों की बहुलता थी, फलतः वहाँ दूध दही और घी का व्यापार बड़े पैमाने पर होता था। दस्युओं का दल कभी-कभी इनकी पूरी-की पूरी वस्ती को लूट लेता था[1]। चम्पापुरी इस जनपद की राजधानी थी। इस नगरी के आसपास अनेक उद्यान थे और नगरों के निकट ही गंगा में मिलनेवाली "चन्दा" नाम की नदी बहती थी। चम्पापुरी के पास चूंकि वह नदी झील के रूप में थी, इसलिए वह कमलवनों से आच्छादित रहती थी। इस नगरी का तत्कालीन राजा कपिल था, जिसके युवराज का नाम था रविसेन (रविषेण)। युवराज की ललितगोष्ठी के सदस्यों में अनेक कलावन्त कुमार सम्मिलित थे। एकबार सभी सदस्य अपनी-अपनी पत्नी के साथ रथ पर सवार होकर उद्यान-यात्रा के निमित्त निकले थे। "धम्मिलल-हिण्डी" ("वसुदेवहिण्डी" के अन्तर्गत धम्मिल्लचरित से सम्बद्ध अधिकार-विशेष) के कलाकुशल नवयुवा चरितनायक मगधवासी धम्मिलल को अपनी चहेती विमलसेना के साथ चम्पापुरी का अतिथि होने के नाते-उक्त ललित-

---

1. द्र० वसुदेवहिण्डी, श्रीजैन आत्मानन्द सभा, भावनगर (गुजरात संस्करण), कथोत्पत्ति, गोपदारक-वृत्तान्त, पृ० १३।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

गोष्ठी की ओर से आयोजित उद्यान-यात्रा में सम्मिलित होने का अवसर मिला था। इतना ही नहीं, राजा कपिल की रूपवती पुत्री कपिला से विवाह करने का भी सौभाग्य उसे प्राप्त हो गया था। राजा कपिल घुड़सवारी का बहुत शौकीन था। राजा कपिल का विद्वेषपात्र भाई सुदत्त चम्पा प्रदेश में ही वहने-वाली कनकवालुका नदी के तटवर्त्ती अटवी-कर्वट संवाह (जांगल ग्राम का दुर्ग-विशेष) का अधिपति था। धम्मिल्ल ने ही दोनों भाइयों में मेल कराया था[1]।

उस समय की चम्पानगरी श्रेष्ठियों एवं सार्थवाहों का प्रमुख केन्द्र थी। उस काल के इन्द्रदम सार्थवाह के पुत्र सागरदत्त की कीर्त्ति दिगन्तव्यापिनी थी। सागरदत्त ही वर्त्तमान चम्पानगरी (भागलपुर का उप-नगर) की प्रख्यात लोककथा "बिहुला बिषहरी" के चरितनायक चाँदी सौदागर का प्रतिरूप है। उस समय के यहाँ के श्रेष्ठियों में भानुदत्त सेठ के पुत्र चारुदत्त सेठ की वड़ी ख्याति थी इस दुर्गम समुद्रमार्ग के माध्यम से अन्तर्देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चलाने का श्रेय प्राप्त था। चारुदत्त की पालिता विद्याधर पुत्री गन्धर्वदत्ता परम रूपवती तथा गन्धर्व वेद (संगीतविद्या) की पारगामिनी थी। उस समय की चम्पानगरी के बाजार में विभिन्न प्रकार की वीणाएँ बिकती थीं। सुग्रीव और जयग्रीव तत्कालीन चम्पापुरी के संगीत-विद्या में निपुण आचार्यों में अतिशय प्रतिष्ठित थे। सुग्रीव की संगीतशाला में सांगीतिक संस्कार से सम्पन्न छात्र ही प्रवेश पाते थे। भारत-भ्रमण के क्रम में वसुदेव जव चम्पापुरी आये थे, तब वहाँ के एक नागरिक से उन्हें सूचना मिली थी कि कुबेरतुल्य सेठ चारुदत्त की परम रूपसी पुत्री गन्धर्वदत्ता संगीत विद्या में पारंगत है। उसके रूप से मोहित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी संगीत-विद्या में अनुरक्त हो उठे हैं। चारुदत्त सेठ ने शर्त्त रखी थी कि संगीतशिक्षा में उस कन्या को जो पराजित कर देगा, उसी पुण्यात्मा की वह पत्नी बनेगी। उस नागरिक ने उन्हें यह भी बताया कि प्रत्येक महीने संगीतविदों के समक्ष निर्णय-परीक्षा का आयोजन किया जाता है। ज्ञातव्य है कि वसुदेव गन्धर्वदत्ता को संगीतविद्या में पराजित कर उसे अपनी पत्नी बनाने में सफल हुए थे। (सो भणइ-इहं चारुदत्तसिट्ठिणो धूया गन्धव्वदत्ता परमरूपवती गंधव्व-वेदपारंगया। सो य इब्भो वेसमणसभाणो। तं तीसे रूवमोहिया माहण-खत्तिय-वइसा गंधव्वे रत्ता। तंच जो जिणइ सिक्खिउँ वस्स भज्जा होहिति पुण्णभागिणो। मासे मासे गए य अणुओगं देइ बिउसाणं पुरओ। ... पत्ता भत्तारं गंधव्वदत्ता।")[2]

१. द्र० "वसुदेवहिण्डी" : "धम्मिल्लहिण्डी", पृ० ५८-६१ (पूर्ववत् संस्करण)

२ द्र० 'वसुदेवहिण्डी' तृतीय गन्धर्वदत्तालम्भ (पूर्ववत् संस्करण), पृ० १२६, १३२

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तत्कालीन चम्पापुरी में बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी का उनके नाम से अंकित पादपीठ प्रतिष्ठित था, जो आज भी यथापूर्व पुण्यास्पद बना हुआ है। चम्पामण्डल में ही प्रतिष्ठित मन्दार-पर्वत की पुण्यातिशयता की भावना तत्सामयिक जन-जन में ही व्याप्त थी। मन्दारपर्वत पर रहनेवाला अनगार विष्णुकुमार विष्णु का ही प्रतिरूप माना जाता था। वह अपने तपोबल से विष्णु के वामनावतार के विपरीत विशाल रूप धारण करने में समर्थ था। चम्पानगरी की रजतबालुका नदी के तीर पर स्थित अंगमन्दिर के उद्यान का धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्व था। अंगमन्दिर में जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठित थी, जिसपर फूल चढ़ाने के लिए भक्तों की भीड़ जुटती थी। समय-समय वहाँ चैत्य-महोत्सव का भी आयोजन होता था। वसुदेव जब गन्धर्वदत्ता के साथ रथ पर वासुपूज्य-दर्शन को निकले थे, तब वहाँ के राजमार्ग पर जन समुदाय की भीड़ उमड़ आई थी और उस भीड़ के बीच से वासुदेव का रथ बड़ी, मुश्किल से निकल पाया था[1]।

चम्पापुरी स्थित तत्कालीन प्राचीन "सुरवन" की "सूराबाँध के रूप में पूर्वस्मृति की परंपरा आज भी सुरक्षित है। मेष-संक्रान्ति (सतुआनी) के अवसर पर बाँध पर पतंग या गुड्डी उड़ाने की औत्सविक प्रथा भी बड़ी प्राचीन है। कथाकार ने लिखा है कि पुराकाल में चम्पानरेश राजा "पूर्वक" अपनी रानी के समुद्रस्नान के दोहद (गर्भिणी की विशिष्ट आहार-विहार की इच्छा) की पूर्त्ति के लिए युक्तिपूर्वक प्रवाहशील जल से परिपूर्ण सरोवर का निर्माण कराया और उसे ही समुद्र बताकर रानी को दिखाया। रानी ने उसमें स्नान करके अपनी दोहद-पूर्त्ति की और पुत्र प्राप्त करके प्रसन्न हुई। तब से रानी अपने मनोविनोद के लिए पुत्र और पुरवासियों के साथ सरोबर के पाश्ववर्त्ती सुरवन की यात्रा करती रही और उसी यात्रा का अनुवर्त्तन बहुत दिनों तक होता रहा[2]।

उस समय भगवान वासुपूज्य स्वामी का मन्दिर उसी सरोवर के कुसुमित वृक्षों से सघन तट पर प्रतिष्ठित था। गन्धर्वदत्ता से विवाह के बाद एक दिन सपत्नीक वसुदेव चारुदत्त सेठ के साथ वहाँ की उद्यानश्री को देखने और वासुपूज्य स्वामी की वन्दना करने के लिए गये थे, जहाँ उन्हें मातंगकन्या विद्याधरी नीलयशा से भेंट हुई थी, जो बाद में उनकी पत्नी बनी[3]। इस प्रकार, महान कथाकार आचार्य संघदासगणि के अंग-जनपद तथा उसकी

---

१. "वसुदेवहिण्डी": तृतीय गन्धर्वदत्तालम्भ (पूर्ववत् संस्करण) पृ० १५५

२ तत्रैव।

३. तत्रैव।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

राजधानी चम्पापुरी एवं प्राचीन चम्पा-मण्डल के आधुनिक स्थान "बौंसी" में अवस्थित मेरुगिरि के समकक्ष मन्दारपर्वत की सांस्कृतिक समृद्धि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

उपर्युक्त अंग-जनपद का मन्दारपर्वत मेरूपर्वत का प्रतिरूप था। उसे "अंगमन्दर" (तत्रैव, पृ० १२६) भी कहा जाता था। कथाकार ने लिखा है कि मन्दार पर्वत की गुफाएँ कल्पवृक्षों से आच्छादित रहती थीं। (तत्रैव, पृ० १६५) प्राचीन अंग-जनपद के चम्पा-मण्डल के वर्त्तमान भागलपुर जिले में अवस्थित "बौंसी" नामक स्थान में विराजमान मन्दराचल से उक्त मेरूश्रतिकल्प मन्दर या अंगमन्दर की पहचान की जाती है। प्राचीन समय में हस्तिनापुर के राजा पद्मरथ का ज्येष्ठ पुत्र विष्णु कुमार अंगमन्दर पर्वत पर ही तप करता था। वह लब्धिसम्पन्न आकाशाचारी अनगार था। सम्प्रति जनसाधारण में यह पर्वत "मन्दारपर्वत" के नाम से विख्यात है। मेरा अनुमान है कि मन्दराचल की गुफायें चूंकि मन्दारवृक्ष से ढकी रहती थीं, इसलिए यह "मन्दारपर्वत" के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

जैनागम में वर्णित मन्दराचल का व्यापक विवरण तो स्वतन्त्र शोध का ही विषय है। जैनागम में प्रसिद्ध है कि श्रेष्ठ मन्दराचल की चूलिका के दक्षिण भाग में अतिपाण्डु कम्बलशिला प्रतिष्ठित थी, जिस पर नवजात शिशु प्रथम तीर्थंकर ऋषभ स्वामी को इन्द्र ने ले जाकर रखा था[1]। वेदश्यामपुर से तीर्थंकरों की वन्दना के निमित्त सम्मेदशिखर (वर्त्तमान राँची-गिरिडीह-मार्ग पर अवस्थित) जाने के मार्ग में राजा कपिल की भिक्षुणी बहन मन्दारपर्वत पर विश्राम के लिए ठहरी थी[2]। कथाकार ने संकेत किया है कि मन्दारगिरिस्थित नन्दनवन नामक सिद्धायतन में अनेक विद्याधर नरेश भी तीर्थंकर की वन्दना के लिए आते थे। एक बार परिवार सहित विद्याधर राजा गरूड़वेग जिन प्रतिमा की वन्दना के निमित्त वैताढ्य-पर्वत की उत्तरश्रेणी से चलकर मन्दारशिखर पर गया था[3]। 'स्थानांग" (४/१३८) में मन्दारपर्वत की चूलिका (उपरी भाग) की चौड़ाई चार योजन की मानी गई है। "स्थानांग" (४/३०६, ५/१५०) में ही वर्णित वक्षस्कार और वर्षधर पर्वतों की स्थिति मन्दारपर्वत के चारों ओर थी। मन्दारपर्वत के चारों ओर शीतोदा महानदी बहती थी[4]। सम्प्रति, मन्दारपर्वत "चन्दन" ("चानन") नदी के पूर्व तथा

---

१. "वसुदेवहिण्डी" : चतुर्थ नीलयशालम्भ पूर्ववत् संस्करण, पृ० १६१।

२ तत्रैव, पृ० १६१।

३. तत्रैव, पृ० ३३४।

४ तत्रैव, पृ० १६५।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

भागलपुर के दक्षिण-पूर्व में तीस मील, यानि लगभग अड़तालिस किलोमीटर की दूरी पर अवस्थित है। इस पर्वत पर वास्तुविद्या तथा मूर्त्तिकला विषयक अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनसे पर्वत के वास्तविक एवं पुरातात्विक महत्व पर प्रकाश पड़ता है। यह पर्वत वर्त्तमान स्थिति में केवल सात सौ फीट उँचा है और इसके मध्य में एक कटिका (पर्वत नितम्ब) है, जिसे वासुकिनाग का कुण्डल कहा जाता है। पौराणिक कथा के अनुसार, समुद्र-मन्थन के लिए इसी मन्दारपर्वत को मथानी (मन्थनदण्ड) बनाया गया था और वासुकिनाग को मथानी की रस्सी। उक्त कटिका या कुण्डल मन्थन के समय रस्सी के घर्षण से ही बना था। चम्पा मण्डल के वासुपूज्य-क्षेत्र का तीर्थंकर-पीठ होने के कारण ही प्राकृत जैन साहित्य में इसकी चर्चा बड़े आदर और आग्रह के साथ विशदतापूर्वक की गयी है।

इस पर्वत की प्राचीनता इससे भी स्पष्ट है कि इसका उल्लेख "कूर्म-पुराण", "वामनपुराण" और "वराहपुराण" में उपलब्ध होता है। "महाभारत" तथा जैनागमों में वर्णित प्रसंगों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह हिमालय श्रेणी का कोई पर्वत था। मेगास्थनीज ने इस पर्वत को "माउण्ट मेलियस" की संज्ञा प्रदान की है[1]। सिलवाँ लेवी मेरु की पहचान पामीर और मन्दर की पहचान उपरली इरावदी (इरावती) क्षेत्र में पड़नेवाली पर्वत-शृंखला से करते हैं। परन्तु, डा० मोतीचन्द्र के अनुसार, "महाभारत" के आधार पर मन्दर की पहचान कदाचित "क्तेन्-लुन्" पर्वत श्रेणी से की जा सकती है, जो मध्य-एशिया के रास्ते पर पड़ती है।[2] जो भी हो इतना निर्विवाद है कि अंग-जनपद में अवस्थित मेरुपर्वत की समानता रखनेवाला मन्दारपर्वत जैनों और ब्राह्मणों की दृष्टि में भारतवर्ष के श्रेष्ठ पर्वतों में परिगणनीय रहा है।

मगध-जनपद :

"वसुदेवहिण्डी" की कथा मगध-जनपद की तत्कालीन राजधानी राजगृह नगर से ही प्रारंभ होती है। कुशाग्रपुर और मगधापुर (प्रा० :मगहापुर) राजगृह के पर्यायवाची नाम थे। कथाकार के अनुसार, तत्कालीन मगध-जनपद धनधान्य से समृद्ध था। वह जनपद वन-उपवन तथा कमल सहित तड़ागों और पुष्करिणियों से सुशोभित था। उस राजधानी के शासन क्षेत्र में बड़े-बड़े गृहपतियों से युक्त सैकड़ों ग्राम बसे हुए थे। वह जनपद अनेक वन-खण्डों से विमण्डित था, जिनमें भोज्य फूल-फल से लदे अनेक छायादार पेड़ भरे हुए थे। राजगृह जल से भरी विशाल खाइयों और शत्रुओं के लिए दुर्ल-

---

१. द्र० "परिषद्पत्रिका", वर्ष १८ : अंक-३ (अक्टूबर, १९७८ ई०), पृ० ३१।

२ सार्थवाह : डॉ० मोतीचन्द्र, प्र० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृ० १३८।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ध्य उँचे-उँचे प्राकारों से आवेष्टित, गगनचुम्बी महलों से मण्डित और अतिशय उन्नत पर्वतों मे परिवेष्टित होने के साथ ही व्यापार का केन्द्रस्थल भी था। वह ब्राह्मणों, श्रमणों, सज्जनों और अतिथियों का सम्मान करनेवाले वणिक-जनों से परिपूर्ण था, साथ ही रथों और घोड़ों से व्याप्त तथा मदपूर्ण हाथियों के मदजल से सिंचित विस्तृत राजमार्गो से सुशोभित था।[1]

उस समय के राजगृह में राजा श्रेणिक (बिम्बिसार) का राज्य था, जिसकी रानी का नाम चेलना और पुत्र का नाम कोणिक (अजातशत्रु) था। तत्कालीन राजगृह का "गुणशिलक" चैत्य (आश्रम: साधुओं का प्रवचन स्थल) अतिशय प्रतिष्ठित था। महावीर स्वामी और उनके प्रधान गणधर सुधर्मा स्वामी दोनों ही यथाकाल गुणशिलक चैत्य में पधारे थे जहाँ जम्बुस्वामी ने उनका शिष्यत्व प्राप्त किया था। सम्पूर्ण जैनागम के वक्ता और जिज्ञासु श्रोता के रूप में सुधर्मास्वामी और जम्बुस्वामी के नामों को आगमिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। और, यह प्रतिष्ठा देने का श्रेय बिहार के मगध-जनपद के राजगृह-नगर को ही है। कथाकार के उल्लेखानुसार पूर्ववर्त्ती काल में वसुदेवचरित को महावीर ने श्रेणिक को सुनाया था और परवर्ती काल में सुधर्मास्वामी ने कोणिक को[2]।

कथाकार संघदासगणी ने बृहद्रथ-पुत्र जरासन्ध के समय के पौराणिक मगध-जनपद को उपजीव्य बनाकर अनेक कथाओं का विन्यास किया है। किन्तु, उनके द्वारा वर्णित मगध-जनपद उनके समय का ही प्रतिनिधित्व करता है। कथाकार ने प्रथम "श्यामाविजयालम्भ" में, पौराणिक संकेतों के आधार पर प्रबन्ध-कल्पना की है कि एक बार जरासन्ध ने वसुदेव के बड़े भाई समुद्र-विजय (यादवों के प्रथम दशार्ह) को दूत द्वारा यह मैत्री-सन्देश भेजकर उनसे सहायता की प्रार्थना की : "आप यदि मेरे प्रबल प्रतिपक्षी सिंहपुरनरेश सिंहरथ को बन्दी बना लेगें, तो आपको अपनी पुत्री जीवद्यशा और अपना प्रधान नगर प्रदान कर दूँगा।" (जरासन्धेण य दूओ पेसिओ अम्हं गुरूणो जेट्ठस्ससीह-पुराहिवं सीहरहं जई गेण्हसि तो ते जीवजसं दुहियं नगरं च पहाणं पयच्छा-मित्ति"।[3]) जरासन्ध की प्रार्थना की बात सुनकर वसुदेव ने अपने बड़े भाई से निवेदन किया कि कंस के साथ मुझे ही युद्ध में जाने दीजिए। किन्तु, समुद्र विजय ने वसुदेव की बात नहीं मानी, इसलिए कि उन्हें विश्वास था कि वसु-देव ने कभी लड़ाई देखी तक नहीं। परन्तु वसुदेव के बार-बार आग्रह करने

---

१. "वसुदेवहिण्डी" : "कथोत्पत्ति" में जम्बुस्वामीचरित्, पृ० २।

२. तत्रैव, पृ० २ और २६।

३. "वसुदेवहिण्डी" : प्रथम श्यामाविजयालम्भ, पृ० ११८।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पर समुद्रविजय ने उन्हें कंस एवं अन्य अनेक सैनिकों के साथ युद्ध में भेज दिया। कंस उनका सारथी बना था[१]।

अन्तिम अट्ठाईसवें देवकी लम्भ में कंस के पूर्व भव की कथा है। उसमें उल्लेख है कि समुद्रविजय और वसुदेव ने जीवद्यशा के भावीपति कंस के क्षत्रियत्व की जानकारी के निमित्त उसकी उत्पत्ति-कथा जाननी चाही। इसके लिए रसवणिक् (तैल, इत्र, शरबत आदि तरल वस्तुओं का व्यापारी) को बुलाया गया, जिसने शिशु कंस को कांस की पिटारी में यमुना में बहते हुए पाया था और उसके साथ उग्रसेन नामसे अंकित मुद्रा वही थी। वसुदेव कंस को उग्रसेन का पुत्र जानकर राजगृह ले आये और जरासन्ध से उन्होंने उसके वंश और पराक्रम की बात कही। उग्रसेन के पुत्र के रूप में उसका समर्थन हो जाने पर जरासन्ध ने अपनी पुत्री जीवद्यशा उसे दे दी। कंस ने जब सुना कि जन्म लेते ही उसे उसके पिता ने यमुना में प्रवाहित करा दिया था, तव वह बड़ा रुष्ट हुआ और जरासन्ध से वरदान में उसने मथुरा नगरी माँग ली। फिर, द्वेषवश उसने अपने पिता उग्रसेन को वन्दी बना लिया और स्वयं मथुरा के राज्य का शासन संभालने लगा। इससे स्पष्ट है कि मगधराज जरासन्ध का प्रताप और प्रशासन राजगृह से मथुरा तक, अर्थात दूर-दूर तक व्याप्त था।[२]

भारत-क्षेत्र के तत्कालीन मगध-जनपद में अवस्थित "शालिग्राम" नामक गाँव के "मनोरम" उद्यान की "सुमना" नाम की यक्षशिला पर पूजा के लिए जनपदवासियों की भीड़ लगती थी। यह शिला "सुमन" यक्ष के नाम पर स्थापित की गई थी।[३] इसी प्रकार मगध-जनपद के "सुग्राम" नामक गाँव की भी वड़ी महत्ता थी, जिसकी अनेक घटनाओं को कथाकार ने अपनी कृति में कथाबद्ध किया है।[४] इस ग्राम में राज-प्रतिनिधियों (प्रा० : रट्ठउड-राष्ट्रकूट) का निवास था। उस समय मगध-जनपद का पलाशपुर ग्राम भी अपना विशेष महत्व रखता था[५]। सुग्राम और पलाशपुर, ये दोनों ग्राम ब्राह्मणों की आवादी के लिए प्रसिद्ध थे। सुग्राम के गौतम ब्राह्मण और पलाशपुर के स्कन्दिल ब्राह्मण की उस समय बड़ी चर्चा और प्रसिद्धि रही होगी,

---

१. तत्रैव देवकीलम्भ, पृ० ११६ और १६८।

२. तत्रैव, देवकीलम्भ पृ० ११६ और १६८।

३. "वसुदेवहिण्डी" : पीठिका भाग, पृ० ८५।

४. तत्रैव कथोत्पत्ति, पृ० २०-२१, प्रतिमुख, पृ० ११३, प्रथम श्यामाविजयालम्भ, पृ० १२ -१२१, अट्ठारहवाँ प्रियंगुसुन्दरीलम्भ, पृ० ३०६।

५. तत्रैव, प्रथम श्यामाविजयालम्भ, पृ० ११४।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तभी तो जैन और ब्राह्मण-कथाओं के प्रतिनिधि एवं निधिग्रन्थ "वसुदेवहिण्डी में उनका बार-बार कीर्त्तन किया गया है। वसुदेव अपने भ्रमणकाल में अपन छद्म परिचय मगध के गौतमगोत्रीय स्कन्दिल ब्राह्मण के रूप में ही प्रस्तु करते थे। उस समय सुग्राम के बाहर प्रतिष्ठित "आयतन" (मन्दिर) की ब महिमा थी। वहाँ के निवासी गन्ध और मालय के साथ आयतन" में पू के लिए आते थे[1]।

कथाकार द्वारा उपन्यस्त कथाओं से यह ज्ञात होता है कि उस सम मगध-जनपद में अनेक धर्माचार्य तपोविहार के लिए आया करते थे[2]। जैस पहले कहा गया मगध का राजा जरासन्ध बड़ा प्रतापी था। संघदासगणी उसके लिए "सामंतपस्थिवपणय-मउडमणिकरा रंजिय पायवीढ़ो" विशेषण क प्रयोग किया है। अर्थात, प्रणतिनम्र सामन्त नरेशों के मुकुटों की मणियों वे किरणपुंज से उस जरासन्ध का पादपीठ अनुरंजित रहता था। एक बार उ जरासन्ध ने वसुदेव को, यानि अपने शत्रु कृष्ण के पिता को बन्दी बनाकर औ चमड़े के थैले में बन्द कराकर राजगृह के 'छिन्नकटक" (वर्त्तमान विपुलाच या वैभारगिरि) पर्वत से नीचे फेकवा दिया था। चूँकि वह पर्वत शिखरही है, इसलिए उसका नाम छिन्नकटक रखा गया होगा, ऐसा मेरा अनुमान है किन्तु, वसुदेव की विद्याधरी पत्नी वेगवती संयोग से वहाँ आ गई और उसने उन्हें बचा लिया[3]।

कथाकार के संकेतानुसार, तत्कालीन राजगृह नगर की द्यूतशाला का अपना वैशिष्ट्य था। अमात्य, सेठ, सार्थवाह पुरोहित, नगरपाल (प्रा० : "तलवार") और दण्डनायक लाखों के मूल्य की मणि, रत्न और सुवर्णराशि के साथ उस द्यूतशाला (जुआघर) में दाँव लगाने को जुटते थे। अस्सी से नब्बे लाख के स्वर्ण मूल्य का दाँव उत्कृष्ट माना जाता था, बत्तीस से चालीस या पचास लाख के स्वर्ण मूल्य का दाँव मध्यम कोटि का होता था, एक लाख के स्वर्ण मूल्य का दाँव जघन्य कोटि का गिना जाता था और पाँच सौ के स्वर्ण मूल्य का दाँव अतिनिकृष्ट समझा जाता था। जीतने वाले दुगुने-तिगुने मूल्य के दाँव लगाते थे। ("तेहिय सुणां मण्णीएय ठविया कयग्धा। तेसिं पुण माणीणं जघण्णा सयसहस्समोल्ला, मज्झिमा बत्तीस-चन्तालीसपण्णासन्स-यसहस्समोल्ला, उक्किट्ठा असीति-नउतिलक्खमोल्ला अतिनिकिट्ठा पंचसया। ततो ते जिप्पमाणा बिउग-तिउगाणि पन्ताणि धरेंति[4]।")

---

१. तत्रैव, कथोत्पत्ति, पृ० २१, तृतीय गन्धर्वदत्तालम्भ, पृ० १२६ ।

२. तत्रैव, पीठिका-भाग, पृ ८५ ।

३ "वसुदेवहिण्डी" : पन्द्रहवाँ वेगवतीलम्भ, पृ० २४८-२४९ ।

४ तत्रैव, पृ० २४७ ।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अनुसन्धान की कार्य-प्रणाली

विदेशी जैन विद्वानों के संदर्भ में

—डॉ० जगदीश चन्द्र जैन

जैनधर्म और जैनदर्शन पर ढेरों साहित्य प्रकाशित हो रहा है मौजूदा शताब्दी में। एक से एक सुन्दर चमचमाता हुआ डिजाइनदार कवर, बढ़िया छपाई, आकर्षक सज्जा। लेकिन अन्दर के पन्ने पलटने से पता लगता है कि ठगाई हो गई—ऊँची दुकान, फीके पकवान। फिर भी सत्साहित्य की माँग बनी हुई है। देश-विदेश से कितने ही पत्र आते हैं। जैनधर्म पर कोई अच्छी-सी पुस्तक बताइये, जिसमें रोचक ढंग से जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों का वर्णन किया गया हो। दर असल, आजकल के अर्थ प्रधान युग में पुस्तक-लेखन और पुस्तक प्रकाशन एक व्यवसाय बन गया है, फिर सत्साहित्य का सृजन कैसे हो? डॉक्टर की पदवी पाने के लिये तो इतनी अधिक मात्रा में शोध-प्रबन्ध लिखे जा रहे हैं कि उनकी तरफ कोई देखने वाला भी नहीं, उनका प्रकाशन होना तो दूर रहा।

विदेशों में ऐसी बात नहीं। जब मैं पश्चिम जर्मनी के कील विश्वविद्यालय में वसुदेवहिंडि पर शोध कार्य कर रहा था तो प्राच्य विद्या विभाग के हमारे डाइरैक्टर महोदय ने बताया कि मुझे छात्रों के अध्यापन पर इतना जोर देने की आवश्यकता नहीं, अपने शोध कार्य पर ही ध्यान केन्द्रित करना उचित है। और विश्वास मानिये, शोध

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कार्य के लिये जिन–जिन पुस्तकों की मुझे आवश्यकता हुई—वे बाजार में मोल मिलती हों या नहीं—उन्हें हजारों रुपया खर्च करके उपलब्ध कराया गया। कितनी ही अप्राप्य पुस्तकों को इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन से मंगाकर उनकी जेरोक्स कॉपी सुरक्षित की गई। नतीजा यह हुआ कि प्राचीन जैनधर्म के अध्ययन के लिये कील विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी अग्रगण्य समझी जाने लगी।

जर्मनी के विद्वान् खूब ही कर्मठ पाये गये। शोधकार्य करने का उनका अपना अलग तरीका है। सामूहिक कार्य (टीम वर्क) की अपेक्षा वैयक्तिक कार्य पर अधिक जोर रहता है। अपना शोध-प्रबन्ध लिखिये, उसे स्वयं टाइप कीजिये। निर्देशक को मान्य न हो तो उसमें संशोधन-परिवर्तन कीजिये। फिर भी कड़ी जांच के पश्चात् परीक्षकों द्वारा स्वीकृत हो जाने पर ही पदवी सुलभ नहीं हो जाती। मौखिक परीक्षा के लिये परीक्षकों के समक्ष उपस्थित होकर उनके प्रश्नों के उत्तर दीजिये, अपने विषय का प्रतिपादन करने के लिये भाषण दीजिये और यदि आप उपस्थित विद्वन्मंडली को संतोष प्रदान कर सके तो ही आप डिग्री पाने के हकदार हो सकते हैं। तत्पश्चात् आपके शोध प्रबन्ध का अमुक भाग उच्च कोटि की पत्रिकाओं में प्रकाशित किया जाता है जिस पर विद्वानों में चर्चा होती है और इसका निर्णय होता है कि आपने अपने शोध प्रबन्ध द्वारा ऐसे कौन-से तथ्य की खोज की है जो अब तक अज्ञात था।

इसे सौभाग्य ही समझना चाहिये कि मुझे कील विश्वविद्यालय में १९७० से १९७४ तक जर्मन विद्वानों के साथ रहते हुए शोध कार्य करने का अवसर मिला। इस बीच मैंने उनके कार्य करने की प्रणाली और उनकी सूझ–बूझ का जायजा लेने का प्रयत्न किया। इस तथ्य को समझने की कोशिश की कि क्या कारण है कि वे लोग किसी जैन ग्रन्थ का अध्ययन कर उस पर अपने सुलझे हुए मौलिक विचार प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं—हम उनके वक्तव्यों को प्रमाण रूप में उद्धृत कर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, जबकि हम उसी ग्रन्थ का बार-बार अध्ययन करते रहने पर भी अपने कोई मौलिक विचार नहीं प्रस्तुत कर पाते—उसकी गहराई में प्रवेश नहीं कर पाते।

प्रसन्नता हुई यह जानकर कि इसी कील विश्वविद्यालय में हर्मन याकोबी (१८५०-१९३७ और रिशार्ड पिशल (१८४९- १९०८) जैसे जैनधर्म एवं प्राकृत के धुरंधर विद्वानों ने शोध करते हुए अपनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचनाओं द्वारा जैन विद्या के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किया।

जर्मनी के विद्वानों में हमें सर्वप्रथम आलब्रेख्त वेबर (१८२५-१९०१) का

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ऋणी होना चाहिये जिन्होंने सबसे पहले विद्वानों को श्वेताम्बर जैन आगमों का परिचय कराने के साथ हर्मान याकोबी जैसे शिष्यों को तैयार किया, जिन्होंने आगे चलकर जैन विद्या के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। याकोबी कुल २३ वर्ष के थे जब हस्तलिखित जैन ग्रन्थों की खोज में उन्होंने भारत की यात्रा की और लौटकर 'सेक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट' सीरीज में आचारांग और कल्पसूत्र (१८८४) तथा सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन (१८९५) का अपनी महत्वपूर्ण भूमिका के साथ अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। इन ग्रन्थों के अनुवाद से विदेशी विद्वानों को जैनधर्म का परिचय प्राप्त करने में बहुत सहायता मिली। याकोबी ने अपने अध्ययन को जैनधर्म तक सीमित नहीं रखा, उन्होंने प्राचीन प्राकृत कथा साहित्य पर भी कार्य किया। उन्होंने उत्तराध्ययन पर रचित देवेन्द्र गणि की शिष्यहिता नाम की पाइय टीका के आधार से अपनी 'ऑसगेवेल्टे एर्त्सेलुंगेन इन महाराष्ट्री त्सुर आइन फ्युरूंग इन दास श्टूडिउम देष प्राकृत ग्रामाटिक टैक्स वोएरतरबुख' (महाराष्ट्री से चुनी हुई कहानियाँ—प्राकृत व्याकरण के अध्ययन में प्रवेश करने के लिये) रचना आज से सौ वर्ष पूर्व १८८६ में प्रकाशित की। प्राकृत कथाओं के कुशल सम्पादन के साथ प्राकृत व्याकरण और शब्द कोष भी प्रस्तुत किया गया। इसके अतिरिक्त प्रोफेसर याकोबी का एक और भी बड़ा योगदान रहा है। उन्होंने प्राचीन जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा जैनधर्म का बौद्ध धर्म से स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करने के साथ यह भी सिद्ध किया कि श्रमण भगवान महावीर के पूर्व भी जैनधर्म विद्यमान था। अपने वक्तव्य के समर्थन में उन्होंने प्रमाण उपस्थित किये, केवल कथन मात्र से कोई बात सिद्ध नहीं हो जाती। इसी को नई शोध या रिसर्च कहा जाता है जो आत्मपरक न होकर वस्तुपरक होती है और जिसमें मध्यस्थ भाव की मुख्यता रहती है। हरिभद्र सूरि की शब्दावलि में कहा जा सकता है कि आग्रही व्यक्ति की युक्ति वहीं जाती है जहाँ उसकी बुद्धि पहुँचती है जब कि निष्पक्ष व्यक्ति की बुद्धि उसकी युक्ति का अनुसरण करती है।

आगे चलकर याकोबी के मन में जैनधर्म सम्बन्धी अधिक जिज्ञासा जागृत हुई। उन्होंने पुनः भारत की यात्रा की योजना बनाई। अब की बार हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में गुजरात और काठियावाड़ का दौरा किया। स्वदेश लौटकर उन्होंने अपभ्रंश के भविसयत कहा और सणक्कुमार चरिउ नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन कर प्रकाशित किया, उनके शोधपूर्ण कार्यों के लिये कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से उन्हें डॉक्टर ऑव लैटर्स, तथा जैन समाज की ओर से जैन दर्शन दिवाकर की पदवी से सम्मानित किया गया आज से एक शताब्दी पूर्व जैन विद्या के क्षेत्र में किया हुआ प्रोफेसर हर्मान याकोबी का अनुसन्धान उतना ही उपयोगी है जितना पहले था।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कील विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग में जैन विद्या के क्षेत्र में कार्य करने वाले दूसरे धुरंधर विद्वान् हैं रिशार्ड पिशल। देखा जाय तो भारतीय आर्य भाषा (इण्डो यूरोपियन) के अध्ययन के साथ प्राकृत भाषाओं का ज्ञान आवश्यक हो गया था। पिशल का कहना था कि संस्कृत के अध्ययन के लिये भाषा शास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है और यूरोप के अधिकांश विद्वान् इसके ज्ञान से वंचित हैं। कहना न होगा कि प्राकृत-अध्ययन के पुरस्कर्ताओं में पिशल का नाम सर्वोपरि है। पिशल द्वारा किये हुए श्रम का अनुमान इसी पर से लगाया जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब कि आगम–साहित्य प्रकाशित नहीं हुआ था, अप्रकाशित साहित्य की सैकड़ों हस्तलिखित प्रतियों को पढ़-पढ़कर, उनके आधार से प्राकृत व्याकरण के नियमों को सुनिश्चित रूप प्रदान करना, कितना कठिन रहा होगा।

पिशल 'ऐलीमेण्टरी ग्रामर आव संस्कृत' के सुप्रसिद्ध लेखक ए० एफ० स्टेन्त्सलर (१८०७-१८७७) के प्रमुख शिष्यों में थे। यूरोप में संस्कृत सीखने के लिये आज भी इस पुस्तक का उपयोग किया जाता है। पिशल ने प्राकृत ग्रन्थों के आधार से अपने 'ग्रामाटिक डेर प्राकृत श्प्राखेन' (प्राकृत भाषा का व्याकरण) नामक अमर ग्रन्थ में अत्यन्त परिश्रमपूर्वक प्राकृत भाषाओं का विश्लेषण कर उनके नियमों का का विवेचन किया है। मध्ययुगीन आर्य भाषाओं के अनुपम कोश आचार्य हेमचन्द्रकृत देशी नाममाला का भी गेओर्ग ब्युहलर (१८३७-१८९८) के साथ मिलकर उन्होंने विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के आमंत्रण पर जर्मनी से मद्रास पहुँचकर वे कलकत्ता के लिये रवाना हो रहे थे कि उनके कान में ऐसा भयंकर दर्द उठा जिसने उनकी जान ही लेकर छोड़ी।

अर्न्स्ट लायमान (१८५९–१९३१) जैन विद्या के एक और दिग्गज विद्वान हो गये हैं। आलब्रेखत वेबर के वे प्रतिभाशाली शिष्य थे। स्ट्रासबर्ग में प्राच्य विद्या विभाग में प्रोफेसर थे वहीं रहते हुए उन्होंने हस्तलिखित जैन ग्रंथों की सहायता से जैन साहित्य का अध्ययन किया। जैन साहित्य उन दिनों प्रायः अज्ञात अवस्था में था। भारत एवं यूरोप में प्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियों के आधार से उन्होंने श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थों का परिचय प्राप्त किया। लायमान सूझ-बूझ के बहुत बड़े विद्वान् थे जिन्होंने श्वेताम्बरीय आगमों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया था। जैन आगमों पर रचित निर्युक्ति एव चूर्णी साहित्य को प्रकाश में लाने का श्रेय उन्हीं को है, जो साहित्य विदेशी विद्वानों को अज्ञात था। प्राकृत साहित्य का अध्ययन कर भाषा-विज्ञान सम्बन्धी उन्होंने अनेक प्रश्न उपस्थित किये। औपपातिक सूत्र को अपने शोध का विषय बनाकर उसका आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित (१८८२) किया।

Ac. Gunratnasuri MS　　Jin Gun Aradhak Trust

विभाग में प्रोफेसर थे, वहीं रहते हुए उन्होंने हस्तलिखित जैन ग्रंथों की सहायता से जैन साहित्य का अध्ययन किया। जैन साहित्य उन दिनों प्रायः अज्ञात अवस्था में था। भारत एवं यूरोप में प्रकाशित हस्तलिखित ग्रंथों की सूचियों के आधार से उन्होंने श्वेताम्बरीय आगमों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया था। जैन आगमों पर रचित निर्युक्ति एवं चूर्णी साहित्य को प्रकाश में लाने का श्रेय उन्हीं को है, जो साहित्य विदेशी विद्वानों को अज्ञात था। प्राकृत साहित्य का अध्ययन कर भाषा-विज्ञान सम्बन्धी उन्होंने अनेक प्रश्न उपस्थित किये। औपपातिक सूत्र को अपनी शोध का विषय बनाकर उसका आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित (१८८२) किया। दशवैकालिक सूत्र और उसकी निर्युक्ति का जर्मन अनुवाद प्रकाशित किया। लेकिन आवश्यक सूत्र उन्हें सर्वप्रिय था। आवश्यक सूत्र की टीकाओं में उल्लिखित कथाओं को लेकर १८९७ में उन्होंने 'आवश्यक एर्त्सेलुंगेन' (आवश्यक कथायें) प्रकाशित किया, लेकिन इसके केवल चार फर्में ही छप सके। अपने अध्ययन को आवश्यक सूत्र पर उन्होंने विशेष रूप से केन्द्रित किया जिसके परिणामस्वरूप 'यूबेरजिस्त यूबेर दी आवश्यक लितरातूर' (Übersicht über die Avasyaka Literatur = आवश्यक साहित्य का सर्वेक्षण) जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ की रचना की गई। सम्भवतः वे इसे अपने जीवन काल में समाप्त नहीं कर सके। आगे चलकर हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर शूब्रिंग द्वारा सम्पादित होकर, १९३४ में इसका प्रकाशन हुआ। इसके अतिरिक्त, पादलिप्तसूरिकृत तरंगवइकहा का 'दी नोने' (Die Nonne) शीर्षक के अन्तर्गत लायमान ने जर्मन अनुवाद प्रकाशित किया (१९२१)। इस रचना का समय ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी माना गया है। विशेषावश्यक भाष्य का अध्ययन करते समय जो विभिन्न प्रतियों के आधार से उन्होंने पाठान्तरों का संग्रह किया उससे पता चला कि किसी पाठक ने इस ग्रन्थ के सामान्यभूत के प्रयोगों को बदलकर उनके स्थान में वर्तमानकालिक निश्चयार्थ के प्रयोग बना दिये हैं।[1]

वाल्टर शूब्रिंग (१८८१-१९६९) जैन आगम साहित्य के प्रकाण्ड पंडित हो गये हैं। नौरवे के सुप्रसिद्ध विद्वान् और नौरवेजियन भाषा में वसुदेव हिंडि के भाषान्तरकार (ओसलो से १९४६ में प्रकाशित) स्टेन कोनो के स्वदेश लौट जाने पर, हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग के डाइरेक्टर के पद पर प्रोफेसर शूब्रिंग को नियुक्त किया गया। जैन आगम ग्रन्थों में उनका ध्यान छेदसूत्रों की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने इस साहित्य का मूल्यांकन करते हुए अपनी टिप्पणियों के साथ कल्प, निशीथ और व्यवहार छेदसूत्रों का सम्पादन किया। महानिशीथ सूत्र पर इन्होंने

---

१. आल्सडोर्फ, 'द वसुदेव हिंडि, ए स्पेसीमेन ऑव आर्किक जैन महाराष्ट्री', बुलेटिन ऑव स्कूल ऑव ओरिण्टियेल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज, १९३६, पृ० ३२१ फुटनोट।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

शोधकार्य किया, अपनी जर्मन प्रस्तावना के साथ उसे १९१८ में प्रकाशित किया (बेलजियम के विद्वान् जोसेफ, दल्यू (Deleu) के साथ मिलकर १९३३ में, और एफ० आर० ह्यम (Hamm) के साथ मिलकर १९५१ में प्रकाशित)। आचारांग सूत्र की प्राचीनता की ओर उनका ध्यान गया, इस सूत्र का उन्होंने संपादन किया तथा आचारांग और सूत्रकृतांग के आधार से वोर्तेन महावीरस (Worte Mahaviras - महावीर के वाक्य, १९२६ में प्रकाशित) प्रकाशित किया। उन्होंने समस्त आगम ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया जिसके परिणामस्वरूप उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति 'द लेहरे डेर जैना' (Die Lehre der Jainas—जैनों के सिद्धान्त, १९३५ में प्रकाशित) प्रकाशित हुई। उनकी यह कृति इतनी महत्त्वपूर्ण समझी गई कि १९६२ में उसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई।

जर्मन परम्परा के अनुसार किसी विद्वान् व्यक्ति के निधन के पश्चात् उसकी संक्षिप्त जीवनी और उसके लेखन कार्यों का लेखा-जोखा प्रकाशित किया जाता है। लेकिन महामना शूब्रिग यह कह गये थे कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके सम्बन्ध में कुछ न लिखा जाये। हाँ, उन्होंने जो समय-समय पर विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित किये थे, उनका संग्रह डबल्यू० शूब्रिग क्लाइने श्रिफ्टेन (लघु निबन्ध, १९७७) के नाम से प्रकाशित किया गया।[1]

लुडविग आल्सडोर्फ (१९०४-१९७८) जर्मनी के एक बहुश्रुत प्रतिभाशाली जैन विद्वान् हो गये हैं। आल्सडोर्फ लायमान के सम्पर्क में आये और याकोबी से उन्होंने जैन विद्या के अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त की। शूब्रिग को वे अपना गुरु मानते थे। जब इन पंक्तियों के लेखक ने हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग में उनके कक्ष में प्रवेश किया तो देखा कि शूब्रिग का एक सुन्दर फोटो उनके कक्ष की शोभा में वृद्धि कर रहा है।

१९५० में शूब्रिग के निधन होने पश्चात् उनके स्थान पर आल्सडोर्फ को नियुक्त किया गया। आल्सडोर्फ इलाहाबाद विश्वविद्यालय में जर्मन भाषा के अध्यापक रह चुके थे अतएव भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से उनका सुपरिचित होना स्वाभाविक था। इलाहाबाद में रहते-रहते उन्होंने एक गुरुजी से संस्कृत का अध्ययन किया व्याकरण की सहायता के बिना ही। आल्सडोर्फ का ज्ञान अगाध था, उनसे किसी भी

१. प्रोफेसर शूब्रिग के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये देखिये कलकत्ता से प्रकाशित होने वाला 'जैन जर्नल', का शूब्रिग स्पेशल अंक (जनवरी, १९७०) इस अंक में 'इण्डो एशियन कल्चर', नई दिल्ली के भूतपूर्व सम्पादक डॉक्टर अमूल्यचन्द्र सेन का एक महत्त्वपूर्ण लेख है, जो शूब्रिग से जैनधर्म का अध्ययन करने के लिए १९३३ में हाम्बुर्ग गये थे।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

विषय की चर्चा चलाइये, आपको फौरन जबाब मिलेगा। एक बार मैं उनसे साक्षात्कार करने के लिए हाम्बुर्ग विश्वविद्यालय में गया। संयोग की बात उस दिन उनका जन्म दिन मनाया जा रहा था। विभाग के अध्यापक और कुछ छात्र आयोजन में उपस्थित थे। आल्सडोर्फ धारा प्रवाह बोलते चले जा रहे थे और श्रोतागण मन्त्रमुग्ध होकर सुन रहे थे। हास्य एवं व्यंगमय उनकी उक्तियाँ उनकी प्रतिभा की द्योतक जान पड़ रही थी। अपनी भारत यात्राओं के सम्बन्ध में बहुत से चुटकुले उन्होंने सुनाये। भारत के पण्डितगण जब उन्हें 'अनार्य' समझकर उनके मन्दिर-प्रवेश पर रोक लगाते तो वे झट से संस्कृत का कोई श्लोक सुनाकर उन्हें आश्चर्य में डाल देते और फिर तो मन्दिर के द्वार स्वयं खुल जाते। जैन पाण्डुलिपियों की खोज में उन्होंने खम्भात, जैसलमेर और पाटण आदि की यात्रायें की थीं और जब उन्होंने इन भाण्डागारों में दुर्लभ ताड़पत्रीय हस्तलिखित प्रतियों के दर्शन किये तो वे आश्चर्य के सागर में डूब गये। अपनी यात्रा के इस रोचक विवरण को उन्होंने शूब्रिंग-अभिनन्दन ग्रन्थ' में 'प्राचीन जैन भण्डारों पर नया प्रकाश' नाम से प्रकाशित किया जो हाम्बुर्ग की प्राचीन एवं अर्वाचीन भारतीय अध्ययन' नामक पत्रिका में (१९५१) प्रकाशित हुआ है। पश्चिम के विद्वानों को यह जानकर ताज्जुब हुआ कि मुनि पुण्यविजय जी महाराज ने कितने परिश्रम से इतनी अधिक संख्या में मूल्यवान पाण्डुलिपियों को सुरक्षित बनाया है।

आल्सडोर्फ के लिए प्राच्य विद्या का क्षेत्र सीमित नहीं था। उसका अध्ययन विस्तृत था जिसमें जैन, बौद्ध, वेद, अशोकीय शिलालेख मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ, भारतीय साहित्य, भारतीय कला तथा आधुनिक भारतीय इतिहास आदि का समावेश होता था। भाषा विज्ञान सम्बन्धी उनकी पकड़ बहुत गहरी थी जिससे वे एक समर्थ आलोचक बन सके थे। क्रिटिकल पालि डिक्शनरी के वे प्रमुख सम्पादक थे जिसका प्रारम्भ सुप्रसिद्ध वी० ट्रेंकनेर के सम्पादकत्व में हुआ था। वसुदेवहिंडि की भाषा को लेकर उन्होंने जो 'बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरियण्टिल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज' नामक पत्रिका (१९३६) में 'द वसुदेव हिंडि : ए स्पेसीमैन ऑव आर्किक जैन महाराष्ट्री' नामक गौरवपूर्ण लेख प्रकाशित किया है, वह निश्चय ही उनकी गम्भीर विद्वता की ओर लक्ष्य करता है। प्राकृत और पालि के साथ-साथ अपभ्रंश पर भी उनका अधिकार था। सोमप्रभ सूरि के कुमारपाल पडिवोह ग्रन्थ पर शोध प्रबन्ध लिखकर उन्होंने पी० एच-डी० की उपाधि प्राप्त की (१९२८ में प्रकाशित)। प्रोफेसर याकोबी की प्रेरणा प्राप्त कर पुष्पदन्तकृत हरिवंस पुराण (तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार) पर शोधकार्य किया (१९३६ में प्रकाशित)। इसके सिवाय कितने ही खोजपूर्ण उनके निबन्ध प्राच्य पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। अगड़दत्त की कथा को लेकर 'न्यू इण्डियन ऐण्टीक्वेरी' (१९३८) में उनका एक खोजपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ। आल्सडोर्फ के निबन्धों का संग्रह आलब्रेख्त वेत्सलेर द्वारा सम्पादित लुडविग

आल्सडोर्फ : क्लाइने श्रिफ्टेन' में देखा जा सकता है। यह ग्रन्थ ग्लासेनप्प फाउण्डेशन की ओर से १९७४ में प्रकाशित हुआ।

आल्सडोर्फ का एक दूसरा भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। वह है प्राचीन महाराष्ट्री में रचित संघदास गणि वाचक कृत वसुदेवहिंडि की ओर विश्व के विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना। १९३८ में, अब से ४० वर्ष पूर्व, रोम की १९ वीं ओरियण्टिल कांग्रेस में उन्होंने एक सारगर्भित निबन्ध पढ़ा जिसमें पहली बार बताया गया कि वसुदेवहिंडि सुप्रसिद्ध गुणाढ्य की नष्ट बड्डकहा (बृहत्कथा) का नया रूपान्तर है। जैसा कहा जा चुका है, १९७०-१९७४ में इन पंक्तियों का लेखक कील विश्वविद्यालय में इसी विषय पर शोधकार्य करने में संलग्न था। इसी को लेकर कई बार प्रोफेसर आल्सडोर्फ के साथ चर्चा करने का अवसर प्राप्त हुआ।

इधर वसुदेवहिंडि को लेकर भारत के बाहर विदेशों में शोधकार्य में वृद्धि हो रही है, लेकिन दुर्भाग्य से मूल प्रति के अभाव में जैसा चाहिए वैसा कार्य नहीं हो पा रहा है। वर्तमान वसुदेवहिंडि की प्रति १९३०-१९३१ में मुनि चतुरविजय एवं मुनि पुण्य विजय द्वारा सम्पादित होकर भावनगर से प्रकाशित हुई थी। प्रोफेसर आल्सडोर्फ से इस सम्बन्ध में चर्चा होने पर उन्होंने कहा कि अन्य किसी शुद्ध पाँडुलिपि के अभाव में, यही सम्भव है कि प्रकाशित ग्रन्थ की पाद टिप्पणियों में दिये हुए पाठान्तरों के आधार से इसका पुन: सम्पादन किया जाये। उनका यह मत मुझे ठीक जँचा, क्योंकि कितने ही स्थलों पर मैंने 'द वसुदेवहिंडि : ऐन ऑथेण्टिक जैन वर्जन ऑव द बृहत्कथा' (१९७७) नामक अपनी रचना में इन पाठान्तरों का उपयोग किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जर्मनी में जैन विद्या के अध्ययन को लेकर गुरु-शिष्य परम्परा में एक के बाद एक प्रकाण्ड विद्वान् पैदा होते गये जिन्होंने जैनधर्म, जैनदर्शन और प्राकृत के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। हेलमुथ फॉन ग्लासेनप्प (१८९१-१९६३ याकोबी के प्रमुख शिष्यों में से थे। लोकप्रिय शैली में उन्होंने जैनधर्म सम्बन्धी अनेक पुस्तकें लिखी हैं। जैनधर्म और कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी उनकी पुस्तकों के अनुवाद हिन्दी गुजराती और अंग्रेजी में हुए हैं। उनकी एक पुस्तक का नाम है 'इण्डिया ऐज सीन बाई जर्मन थिंकर्स' (भारत जर्मन विचारकों की दृष्टि में) है। उन्होंने अनेक बार भारत की यात्रा की। उनकी यात्रा के समय प्रस्तुत लेखक को उनसे भेंट करने का अवसर मिला था।

विशेष उल्लेखनीय है कि आल्सडोर्फ सेवानिवृत्त होने पर भी उसी उत्साह और जोश से शोधकार्य करते रहे जैसे पहले करते थे और विश्वविद्यालय की ओर उन्हें पहले जैसी सभी सुविधायें मिलती रहीं। उन्होंने अनेक शिष्य तैयार किये। इनमें

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

क्लाउस ब्रून, १९६६ से ही बर्लिन के फ्राई विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग के अध्यक्ष पद पर कार्य कर रहे हैं। इन पंक्तियों के लेखक को बर्लिन में प्रोफेसर ब्रून से साक्षात्कार करने का अवसर प्राप्त हुआ है। उन्होंने शीलांक के 'चउप्पन्न महापुरिस चरिय' का सम्पादन (१९५४) किया है। उनका दूसरा उल्लेखनीय कार्य है आवश्यक का विस्तृत अध्ययन जो, आवश्यक स्टडीज १' नाम से जैनधर्म एवं बौद्धधर्म का अध्ययन' नामक आल्सडोर्फ अभिनन्दन ग्रन्थ (१९८१) में ३८ पृष्ठों (११–४९) में प्रकाशित हुआ है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने सहयोगी प्रोफेसर चन्द्रभाल त्रिपाठी के साथ मिलकर अर्न्स्ट वाल्डश्मित के ८० वें जन्म दिवस पर प्रकाशित उनके अभिनन्दन ग्रन्थ में जैन शब्दानुक्रमणिका एव भाष्य शब्दानुक्रमणिका' नामक लेख प्रकाशित किया है (बर्लिन, १९७७)। प्रोफेसर एडेलहाइड मेट्टे आल्सडोर्फ की एक अन्य विदुषी शिष्या हैं जो आजकल म्यूनिक विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या-विभाग में कार्य कर रही हैं। ओघनिर्युक्ति पर इन्होंने कार्य किया है। समय-समय पर जर्मन पत्रिकाओं में इनके शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होते रहते हैं। इनका एक विद्वत्तापूर्ण निबन्ध उक्त आल्सडोर्फ अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है जिसमें वृहत्कल्प भाष्य (१, ११५७-११५८) की कथा की बौद्धों के मूसिक जातक से तुलना करते हुए, वृहत्कल्प भाष्य की उक्त गाथाओं की प्राचीनता पर प्रकाश डाला गया है। इन पंक्तियों के लेखक को अपनी म्यूनिक-यात्रा के समय श्रीमती मेट्टे से भेंट करने का अवसर प्राप्त हुआ।

इस प्रसंग पर बर्लिन की फ्राई विश्वविद्यालय के प्रोफेसर क्लाउस ब्रून के सहयोगी प्रोफेसर चन्द्रभाल त्रिपाठी के नाम का उल्लेख कर देना आवश्यक है जिन्होंने स्ट्रासबर्ग की लाइब्रेरी में उपलब्ध जैन पाण्डुलिपियों पर उत्पन्न महत्वपूर्ण शोध कार्य किया है। उनकी यह कैटेलोग ऑव द जैन मैनस्क्रिप्ट्स ऐट स्ट्रासबर्ग' नामक महत्वपूर्ण कृति भूमिका परिशिष्ट, प्लेट्स और मानचित्र के साथ लाइडन (हालैण्ड) से १९७५ में प्रकाशित हुई।

जर्मनी के अन्य विद्वानों में पंचतन्त्र के सुप्रसिद्ध सम्पादक और प्राकृत जैन साहित्य के विशिष्ट अध्येता तथा 'द लिटरेचर ऑव श्वेताम्बर जैन्स ऑव गुजरात' (१९२२) के लेखक जोआनेह हर्टल (१८७२-१९५५) 'महावीर तथा बुद्ध कालीन भारतीय दर्शन' (१९०२) के लेखक फ्रीडरिख ओटो श्राडेर, गुट्टिंगन विश्वविद्यालय में बौद्ध एव जैन विद्या के विद्वान् गुस्ताफ रॉथ, और 'राजा नमि की प्रव्रज्या' (१९७९) के जर्मन भाषान्तरकार जर्मन गणतन्त्र में हाम्बोल्ट विश्वविद्यालय बर्लिन में प्राकृत के विद्वान् वोल्फ गांग मौर्गेन रॉथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

विदेश के अन्य विद्वानों में अमरीका के नार्मन ब्राउन, अर्नेस्ट, चेकोस्लोवाकिया के मौरीस विण्टरनीत्स, स्वीडन के जार्ल शार्पेण्टियर, बेल्जियम के 'द ल्यू, फ्रांस की श्रीमती कैया (Carllat) आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। विस्तार भय से इस लेख में उनके एवं उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में कुछ कहना सम्भव नहीं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ब्राह्मण-पूराण में पाञ्चाल ऐतिहासिक दृष्टि

डा० अरुणलता जैन
एम० ए पी-एच० डी०

उत्तर प्रदेश और बिहार राज्य को बहुसंख्यक महापुरुषों के जन्म-विचरण और निर्वाण क्षेत्र होने का गौरव प्राप्त है। जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकर इन्हीं दोनों प्रान्त में हुए। गिरनार तथा अष्टापद के अतिरिक्त सभी की निर्वाण भूमि बिहार है। वस्तुतः यहाँ तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ की कल्याणक भूमि पाञ्चाल्य-जनपद के इतिहास पर प्रकाश डालना अभीष्ट है। यह वह जनपद है जहाँ हजारों वर्ष पूर्व सभ्यता-संस्कृति की ध्वजा फहराती थी। आज पाञ्चाल जनपद का महानगर उसके दक्षिण राज्य की राजधानी एक छोटे से गांव के रूप में सिमट कर रह गया है।

कम्पिल के विषय में जानने से पूर्व यह प्रश्न उठता है कि कम्पिल शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई? पुराणों में कम्पिल की उत्पति इस प्रकार बताई गई है कि पतितों को पावन करने के कारण, भयसे मुक्ति के कारण इसका नाम कम्पिला हुआ। वहां इस प्रकार इस शब्द की उत्पति निरूपित की गई है—कज जनुष-ब्रह्मा जी के नाम पर प्रथम अक्षर 'क', पिनाकी-शिवजी के नाम पर प्रथम अक्षर 'पि' लक्ष्मी पति-विष्णु के नाम पर उनका आदि अक्षर 'ल' है। इन तीनों अक्षरों के योग से कंपिल संज्ञा हुई।[1]

(१) महाभारत प्रथम अध्यायाय, पृष्ट सं० २५

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

तीनों ही सत्यं-शिव-सुन्दरम का रूप हैं। जो सत्य रूप है वह कल्याणकारी होगा ही जो कल्याण रूप है वह सुन्दरतम होगा। तीनों शक्ति के अवतार हैं। अतएव कंपिल की शक्ति मात्र भौतिक नहीं आत्मिक है, आध्यात्मिक है। जहाँ भौतिक शक्ति अन्ततो पाशविक हो उठती है वहीं आध्यात्मिक शक्ति सदैव कल्याणकारी होती है।

कम्पिल का इतिहास अति प्राचीन है। उसकी प्राचीनता को उजागर करने के लिए यह प्रश्न मन में कौंध जाता है कि उसे किसने और कब बसाया? उसका नाम कम्पिल क्यों पड़ा? भारतीय परम्परा के अनुसार बहुधा प्रदेश किसी राजा या महापुरुष के नाम पर बसे। महाभारत के शान्ति पर्व में राजर्षि पञ्चाल का वर्णन मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि पाञ्चाल के वंशजों का शासन अधिक समय तक रहने के कारण इसका नाम पाञ्चाल पड़ा। ब्राह्मण ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इसका एक प्राचीन नाम 'क्रिवि' प्रदेश था।[1] यहाँ 'क्रिवि' शब्द का देश के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है इसके अनुसार क्षत्रिय जाति का पुत्र 'क्रैव्य' इस देश का राजा कहा गया है। आर्य जनपदों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान था। वैदिक युग में कुरु के समान पाञ्चाल ने भी बहुत महत्त्व प्राप्त कर लिया था इसके राजा शोणसात्रा साह ने अश्वमेध यज्ञ किया था।[2] पाञ्चाल और कुरु राज्य के नाम एक साथ मिलते हैं। कुछ पुराणों में पाञ्चालों को मध्यमाध्रिक के निवासी कहा गया है। कुरु, पाञ्चालों के द्वारा अनेक विजय-यात्राओं का वर्णन मिलता है।

पुराणों में ऐसा वर्णित है कि अजामीढ़ की रानी नलिनी से नील पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके शान्ति, उनके सुशान्ति, उनके पुरुज, उनके अर्क तथा अर्क के भृमश्व पुत्र हुए। भृमश्व इस जनपद के राजा हुए। इनके पाँच पुत्र हुए — मुद्गल, सृंजय, वृहदिषु, यवीनर, काम्पिल्ल। मुद्गल की सन्तान ब्राह्मण हुई। सृंजय तथा काम्पिल्ल राजा हुए। काम्पिल्ल ने अपने नाम पर काम्पिल्य बसाया।[3] इन्हीं पांचाल पुत्रों के द्वारा रक्षित प्रदेश को पाञ्चाल कहा गया। किन्तु कुछ विद्वानों का विचार है कि जनपद का नाम पाञ्चाल इसलिए पड़ा कि यहाँ क्रिवि, तुर्वशु, केशिन, सृंजय और सोमक पाँच समुदाय थे। इनमें क्रिवि लोग प्रधान थे। कुछ विद्वानों का कथन है कि ऋग्वेद में क्रिवि शब्द तो मिलता है किन्तु पांचाल नहीं। शायद उस समय पाञ्चाल नाम का कोई पृथक जनपद न हो किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में इस देश तथा उसमें रहने वाले लोगों के लिए पाञ्चाल नाम पाया जाता है। काठक संहिता में पाञ्चाल को केशिन दालभ्य कहा गया है।

---

(१) प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृष्ठ सं० १३६, सत्यकेतु, विद्यालंकार

(२) शतपथ १३/५/४/६—१६

(३) महाभारत पंचम अध्याय पृष्ठ १५१

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ऐतिहासिक दृष्टि से विष्णु पुराण की परम्परा अधिक युक्ति-संगत दिखाई पड़ती है। इसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं—जैसे वैवस्वत मनु के वंशज आनर्त्त ने आनर्त्त बसाया था। इक्ष्वाकुवंशी श्री वास्त ने श्री वस्ती नगरी बसाई, कुरुवंशी प्रतीक पुत्र बाल्हीक ने वाल्हक नगर बसाया।

पाञ्चाल के कई राजाओं का उल्लेख वैदिक साहित्य तथा पुराणों में मिलता है। इन राजाओं के नाम इस प्रकार हैं—नीलि, सुशान्ति, पुरुजन, मृक्ष, भृमश्व, मुद्गल, वृहयश्व, दिवोदास, मित्रासु, सृंजय, च्यवन, सुदास, सहदेव, सोमक, जन्तु आदि।

वृहयश्व का पुत्र दिवोदास बड़ा शक्तिशाली शासक हुआ। उसकी तीन पीढ़ी पश्चात्त राजा पिजवन हुआ' जिसकी बड़ी ख्याति थी। उसका पुत्र सुदास पिता से भी अग्रणी था। उसके राज्य में पाञ्चाल की बड़ी उन्नति हुई। सुदास ने हस्तिनापुर के पौरव राजा संवरण को परास्त किया और उसे वहाँ से भगा दिया। संवरण ने आस पास के राजाओं का सुदास के विरुद्ध सगठन किया। इस दल में यदु दुह्य, तुर्वसु अनु मत्स्य, शिवि,···· ··· मलनस, अलिन, विषाणी आदि थे किन्तु सुदास ने रांची नदी के तट पर इन्हें परास्त किया। इस युद्ध का उल्लेख 'दाशराजन युद्ध' के रूप में मिलता है: सुदास की इस अवसर की विजय उनकी असाधारण-शक्ति का प्रमाण थी।

राजा सुदास के पश्चात उनका पुत्र सहदेव पाञ्चाल का अधिकारी हुआ। संवरण ने सहदेव को परास्त किया और अपना राज्य लौटा लिया। सवरण का पुत्र कुरु शक्ति शाली शासक हुआ। उसने दक्षिण पाञ्चाल को भी जीत लिया। इसके नाम से सरस्वती नदी के आस-पास का क्षेत्र कुरुक्षेत्र कहलाया। कुरु के वंशज कुरु कहलाए।

सहदेव के उत्तराधिकारी जन्तु नामक राजा के पश्चात बहुत समय तक उत्तर पाञ्चाल के किसी राजा का उल्लेख नहीं मिलता। दक्षिण पाञ्चाल में समर पृथु, ब्रह्मदत्त, विश्वकसेन, उदकश्वन, जनमेजय आदि राजाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें ब्रह्मदत्त प्रसिद्ध राजा हुआ। इन सभी राजाओं की राजधानी कम्पिल थी।

बस्तुत: पाञ्चाल देश के ब्राह्मणों का पवित्र नगर कम्पिल था। यह आर्थिक बौद्धिक, शक्तियों का संगम—स्थल है। कम्पिल ब्रह्मतेजोमय धर्म देश में स्थित प्रसिद्ध स्थान कहा गया है।[1] ब्रह्मदत्त के समय में कम्पिल लक्ष्मी की निवास भूमि थी।[2]

---

(१) ज्याग्राफी ऑफ एशियन्ट एण्ड मिडवल इण्डिया, दिनेश चन्द्र, पृष्ठ सं० १७१

(२) इण्डियन सेन्टी कवीटीज पृष्ठ २६, डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उद्योग पर्व के अनुसार पांचाल में ब्रह्ममित्र द्वितीय हुए। वाल्मीकि रामायण में भी इस राजा, ने अपने प्रताप सेकान्यकुब्ज नरेश कुशनाम की १०० कुबड़ी पुत्रियों की पीठ सीधी कर दी थी, का उल्लेख मिलता है। इन्हीं पुराणों में यह भी वर्णित है कि जिस समय अयोध्या में राजा दशरथ राज्य करते थे तथा मिथिला में जनक। इसी समय काम्पिल्य में सम्राट प्रवाहण जैबलि राज्य करते थे। वे स्वयं विद्वान थे। प्राचीन लेखों से विदित होता है कि उस समय कम्पिल में विद्यालय था। उसमें अनेक विद्याएँ पढ़ाई जाती थी। दूर दूर से विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आते थे।

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति में यह एक महत्त्वपूर्ण बात थी कि शिक्षा कार्य को उचित रूप से चलाने और राज्य एवं शिक्षा सम्बन्ध को स्थायित्व देने के लिए शासक भी विश्वविद्यालय के आचार्य हुआ करते थे। पुराणों के अनुसार जैबलि दर्शन-विभाग के अध्यात्मतत्त्व एवं ब्रह्म-विद्या के विषयों के प्रधानाचार्य थे। आरुणि मुनि के पुत्र श्वेतकेतु एक समय अभिमान सहित पाञ्चाल विद्वानों से शास्त्रार्थ करने आए थे। उन्हें विश्वास था कि उनके पिता जी ने उन्हे सम्पूर्ण ज्ञान सिखा दिया। वे कम्पिल पहुँचे और वहाँ शास्त्रार्थ करने का प्रस्ताव रक्खा। राजा जैबलि ने सहर्ष ही उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। सम्यक्ज्ञानी को भला चुनौती डिगा सकती है? राजा जैबलि ने अध्यात्म सम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछे किन्तु श्वेतकेतु उनमें से एक का भी उत्तर नहीं दे सके। लज्जित होकर वह वापिस पिता जी के पास पहुँचे और पिता जी से प्रश्नों के उत्तर पूछे। गौतम आरुणि प्रश्नों को सुनकर चकित रह गए। प्रश्नों के उत्तर उन्हें भी समझ में नहीं आए। वह पुत्र श्वेतकेतु के साथ राजा जैबलि के पास पहुँच अध्यात्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए गए। राजा विनम्र स्वभावी थे। सच है जो सर्वथा ज्ञानवान है उसके लिए सभी समान है। उसमें समता भाव होता ही है। राजा ने ससम्मान उन्हें अपना शिष्य स्वीकार किया और अध्यात्मवाद की शिक्षा दी।

उसी समय उत्तर पांचाल का राजा पृषत था। उसके पिता को द्विमीढ़ राजा उग्रायुध ने मार डाला और राज्य पर अधिकार कर लिया। पृषत अपनी रक्षा के लिए दक्षिण भाग आया और कम्पिल में शरण ली। उग्रायुध को शान्तनु पुत्र भीष्म ने परास्त कर मार डाला और पृषत को अहिच्छत्रा की गद्दी पर बिठाया। पृषत की मृत्यु के पश्चात् द्रुपद पांचाल के राजा हुए। धीरे धीरे उन्होंने सम्पूर्ण पाञ्चाल पर अधिकार कर लिया।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

महाभारत में भी पाँचाल का राजा द्रुपद का वर्णन है। द्रोणाचार्य से पांचाल राजा द्रुपद का युद्ध हुआ। दोनों बचपन के मित्र थे। द्रुपद ने राज्यभिषेक के पश्चात्त बचपन की मैत्री भुला दी। उन्होंने राजा की ब्राह्मण से मित्रता असम्भव मानी। द्रोणाचार्य को यह बात चुभ गई। उन्होंने पाण्डवों के सहयोग से राजा द्रुपद को परास्त कर दिया। द्रोणाचार्य ऋषि थे। उन्हें राज्यपद, सत्ता से लगाव न था। वह तो शासन व्यवस्था को महत्त्व देते थे और उससे भी अधिक मानवता मैत्री को महत्त्व देते थे। राजा द्रुपद राज्य पाकर अहंकार में डूब गए। उन्हें इस बात का बोध कराना था। अतः युद्ध करना आवश्यक समझा। तत्पश्चात उन्होंने सम्पूर्ण पाञ्चाल को दो भागों में विभाजित कर दिया। उत्तर पाञ्चाल का अधिपति अपने पुत्र अश्वत्थामा को बनाया तथा राजा द्रुपद से मैत्री स्थायी रखने के लिए दक्षिण पाञ्चाल उन्हें वापिस कर दिया। राजा द्रुपद ने दक्षिण पाञ्चाल की राजधानी काम्पिल्य को बनाया। राजा द्रुपद पाञ्चाल राज थे। उनकी पुत्री पाञ्चाली कहलाई।[1] उत्तर पाञ्चाल की राजधानी अहिच्छत्र को बनाया।

राजा द्रुपद के विषय में चर्चा मिलती है कि उन्होंने द्रोणाचार्य का पराभव करने में स्वयं को असमर्थ पाया। तब कर्मकाण्डी ब्राह्मण द्वारा यज्ञाहुति देने पर पुत्र धृष्टद्युम्न तथा पुत्री द्रोपदी हुई। धृष्टद्युम्न, द्रोण तथा द्रोपदी कौरवों को नष्ट करने का कारण बनी। इस युद्ध में कई जनपदों के शासक बलिदान हो गए। द्रोण पुत्र बचे। उन्होंने द्रोपदी पुत्रों का वध कर डाला।

महाभारत में वर्णित शिखण्डी का आख्यान कम्पिल में ही घटित हुआ था। शिखण्डी दशार्ण नरेश हिरण्य वर्मा की पुत्री को विवाहोपरान्त यहीं लाया था। शिखण्डी का स्त्री होने का समाचार सुनकर हिरण्यवर्मा कुपित हुआ। उसने कम्पिल नगर को चारों ओर से घेर लिया। तब यहाँ वेणु नामक भयंकर जंगल था। जिसमें स्थूलकर्ण यक्ष रहता था। उसने शिखण्डी को स्त्री से पुरुष बनाने के लिए अपना पुरुषत्व प्रदान किया।

महाभारत के पश्चात्त पाञ्चाल की प्रसिद्धि बढ़ी। उस समय उत्तर भारत में पाञ्चाल पौरव, यादव शक्तिशाली राज्य थे। इस समय महाभारत का युद्ध प्रसिद्ध घटना है जिसमें अपार जन–धन की क्षति हुई। इस युद्ध का कारण पौरव राज, धृष्टराष्ट्र पुत्र कौरव तथा पाण्डु-पुत्र पाण्डवों का वैमनस्य था। उत्तर पाञ्चाल शासक द्रोण ने पुत्र अश्वत्थामा के साथ पौरवों का पक्ष लिया। दक्षिण पांचाल राजा द्रुपद ने पाण्डवों की सहायता की। द्रुपद पुत्री द्रोपदी का पाण्डवों से पाणिग्रहण हुआ। इस कारण पाण्डवों का दक्षिण पाञ्चाल के साथ घनिष्ट सम्बन्ध हुआ।

महाभारत के दीर्घ अन्तराल तक पाञ्चाल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कोई पता नहीं लगता। पाण्डवों ने उसे अपने आधीन रक्खा। उनके स्वर्गवास के पश्चात

अर्जुन पौत्र परीक्षित नामक राजा शासक बना। परीक्षित के समय नाग जाति का प्राबल्य था। नागराज तक्षक द्वारा परीक्षित की मृत्यु हुई। पाञ्चाल पर नागों का प्रभुत्व अधिक समय तक नहीं रहा। परीक्षित पुत्र जनमेजय ने नागों को परास्त कर दिया। जनमेजय के पश्चात्त पाञ्चाल पर वहाँ के राजवंश का पुनः अधिपत्य हो गया तथा नन्दवंशीय महापद्मनन्द के समय तक रहा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पुराणों में महाभारत-युद्ध से लेकर महायज्ञ तक पाञ्चाल के सत्ताइस राजाओं का उल्लेख मिलता है किन्तु उनके नाम अज्ञात है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

नैतिक और मूल्यपरक शिक्षा

भारत सरकार की नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत नैतिक और मूल्यपरक शिक्षा पर विस्तृत चर्चा एव क्रियान्विति के लिए हरियाणा सरकार ने स्थान स्थान पर सैकड़ों अध्यापक शिविरों का आयोजन किया। शिक्षा के क्षेत्र में जीवन–विज्ञान की मौलिक जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से हरियाणा सरकार ने जैन विश्व भारती को आमंत्रण भेजा। लाडनूं से एक दल गुड़गांव पहुँचा। वहाँ चलनेवाले पंच दिवसीय शिविर में, पूरे हरियाणा में लगने वाले शिविरों के निदेशक, संदर्भित व्यक्ति एवं एस० सी० ई० आर० टी० के अधिकारी थे। जीवन विज्ञान की वर्तमान शिक्षा प्राणाली में उपयोगिता एवं तत्संबंधी प्रयोगों की जानकारी प्राप्त कर वे बहुत प्रभावित हुए। समण-समणीवृन्द आदि ने हरियाण में लगने वाले अध्यायकों के ११५ शिविरों में जीवन विज्ञान का प्रशिक्षण दिया। पैंतीस दिनों की इस यात्रा के दौरान विभिन्न जिलों के छह हजार अध्यापकों को जीवन-विज्ञान की जानकारी दी गई।

निदेशक, सैकण्डरी शिक्षा हरियाणा के आदेशानुसार दिनांक ९--५--८९ से १४-५--८९ तक SCERT गुड़गांव में कोई डायरेक्टर एवं रिसोर्स पर्सन्य (Gourse Director and Resource Persons) के शिविर तीन चरणों में आतोजित हुए। १७-५--८९ से २७--६--८९ तक तीन चरणों में ६७ विद्यालयों में अध्यायकों एवं प्रधानाध्यायकों के सेवाकालीन प्रशिक्षण शिविर आयोजित हुए। इनमें अन्य तत्वों के अतिरिक्त मानवीय नैतिक मूल्यों का शिक्षण भी दिया गया।

महाप्राण ध्वनि, कायोत्सर्ग, दीर्घश्वास प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा और आसान-प्राणायाम के प्रयोगों की जानकारी दी गई।

स्थान--स्थान पर संघ के सदस्यों ने कार्यक्रमों और व्यवस्थाओं में पूरा सहयोग दिया।

हरियाणा योजना आयोग के उपाध्यक्ष श्री मूलचन्द जैन ने भी कुछ केन्द्रों का दौरा किया और प्रयोगों की सराहना की।

लगभग ६,००० अध्यायकों को इस कार्यक्रम से लाभ पहुँचा।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

ाशाम्बी (गढ़वा) मन्दिर का आधुनिक इतिहास

—सुबोध कुमार जैन

(गड़वा के श्री बद्री प्रसाद जैन ने, बताया)

१. इस प्राचीन मन्दिर का सम्वत् १९१९ (ई० १८६२) में बाबू ाासजी जैन ने जीर्णोद्धार एवं एक नए शिखर मन्दिर का निर्माण करवाया। ाशाला भी उन्होंने बनवाई।

२. उस समय पुराने मन्दिर में पद्मप्रभु भगवान की चरणपादुक थी जो अभी है और जो सम्वत् १६०० की है।

३. बड़े मन्दिर में भगवान अजितनाथजी की चौमुखी मूर्ति थी उसे ाओं ने खण्डित कर दिया था। उस मूर्ति को बड़े मन्दिर से उठवाकर छोटे मन्दिर में ाजमान करवाया गया, यह बात सम्वत् १९७२ की है।

४. सम्वत् १९७३ में बड़े मन्दिर में नई मूर्ति जिसमें इन्द्र चारों ओर बने ास चौमुखी भगवान पद्मप्रभुजी की मूर्तिको विराजमान किया गया और उसकी ाा सम्वत् १९७३ में बाबू निर्मलकुमार जी जैन ने अपनी धर्म-पत्नी के साथ ान्द्राणी बनकर की थी।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

५. इस मन्दिर के संबन्ध में किवदन्ती यह है कि सम्वत् १८८० में इला के हीरालाल सरजोमल दर्शन करने के लिए कौशाम्बी मन्दिर में गये, वहाँ कुएँ में सफाई करवाने पर भगवान पद्मप्रभु की मनोज्ञ मूर्ति मिली जिसे उठवाकर पपौ गये। वहां पहाड़ पर सम्वत् १८७७ में मन्दिर बनवाना शुरु किया। वहां ज १८ बीघा जमीन खरीदा जिसका विवरण नीचे है। (क) १३ बीसवा सीढ़ी (ख बीसवा पहाड़ की जमीन ग) ५ बीसवा भडार की जमीन (घ) ५ बीघा १ नीचे का धर्मशाला, घेरा हुआ (ङ) ३ बीघा जमीन धर्मशाला—पहाड़ के रा (च) सवा बीघा माली को दिया गया (छ) बाकी जमीन सीढ़ी और पहाड़ में

६. हीरालाल सरजोमल ने सम्वत् १८७७ में पपौसा मन्दिर की प्र किया। जो पद्मप्रभु भगवान की मूर्ति गढ़वा से ले गये थे उसे वहाँ विराज करवाया।

७. सम्वत् १९९ में गढ़वा मन्दिर का प्रबन्ध बाबू गया प्रसाद इला के मार्फत होता था, उस समय २६० रुपया, कोठी, देवाश्रम, आरा (भोज से लाकर उनके मार्फत धर्मशाला, मन्दिर का जीर्णोद्धार निम्न प्रकार करवाया गय

(क) उस समय लकड़ी के १२ किवाड़ को हटाकर १२ लोहे के लगवाये गये, ५ लकड़ी के किवाड़ छोड़ दिये गये जो अभी लगे हैं ख) धमशाल कमरों में जहां खप्पर छाया गया था वहां उसे हटा कर टीना लगवाया गया। धर्मशाला के उत्तर तरफ बड़े दहलान की छावनी को पक्की करवाई गई। (घ) दरवाजा की छावनी को भी पक्का बनवा कर तैयार किया गया।

८. बाबू गया प्रसाद, इलाहाबाद, प्रबन्धक जी के समय मन्दिर में पाठ का कार्य घीसूलाल जी पुजारी किया करते थे।

९. इनके पहले मन्दिर के पूजा-पाठ कार्य घीसूलाल जी के पिता सु लाल जैन करते थे।

१०. घीसूलाल जी सम्वत् २०४० में अभी भी जीवित हैं। उनके अयोध्या प्रसाद पुजारी सम्वत २०१३ से पूजा का कार्य करने लगे।

११. सम्वत् २०२० में अयोध्या प्रसाद पुजारी बनारस चले आए, त उनके बड़े भाई बद्री प्रसाद पुजारी पपौसा, गढ़वा मन्दिर का कार्य करने लगे।

१२. सम्वत् २०३२ से बद्री प्रसाद पुजारी के बड़े लड़के ने ४ वर्ष किया सम्वत् २०२६ से बद्री प्रसाद जैन का छोटा लड़का लालचन्द जैन पुजा पूजा करना शुरू किया जो अभी भी कर रहा है।

१३. पाली की जमीन बाबू प्रभुदास जी जैन ने सम्वत १९१९ में मियाँ जमीन्दार परगना, करार्ली से खरीदा। उसी समय ४ बीसवा जमीन बनवाने के लिए किसी केवट से खरीदा। इसके पहले पुराने मन्दिर के साथ

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

१ बीघा १२ बीसवा और कुआँ है। इसके अतिरिक्त १८ बीसवा पूरब पश्चिम के जमीन की लम्बाई अलग है, जो पूरब तरफ फाटक की ओर है और जो बन्द है। इस प्रकार कुल जमीन ६ बीघा १५ बीसवा पाली में हैं।

१४ आज २०-४--८४ को बद्री प्रसाद पुजारी आरा आए थे, सब समाचार लिखा। उन्होंने बतलाया कि उस इलाके के पटवारी से बातचीत हो गई है, उसने वायदा किया हैं कि पाली और गढ़वा के जमीन मन्दिर के अधिकार में दे देंगे।

१५ गढ़वा--पाली का BIockOfllce इलाहाबाद में अदालत के पास है।

१६ घोसीराम नाम का पुरानी बात है। उसी जगह एक कुआँ है उसी कुआँ का नाम चितिहाँ कुआँ है। उसी जगह पश्चिम की तरफ २० गज पर महावीर कीर्ति स्तम्भ है पास में ही पुराना कुआँ है, उसी पर २० गज पर उत्तर की तरफ बरसात में सोने के सिक्के मिट्टी में मिलते हैं। मन्दिर के पश्चिम के ओर यमुना के किनारे राजा उदयन की कोठी थी अभी मालूम पड़ता है नारद सारस्वती वीणा दोनों बजाते थे । ता हाँ आकर ध्यान से सुनते थे उसी पर राजा परिक्षित का यमुना के किनारे किला बना है उसी पर भुजंगा हार बोला जाता उसी पर सर्पावली जग जनेड़य ने कराया है मन्दिर के पूरब की ओर बुद्ध विहार कहा जाता है। मन्दिर के ४० गज के दूरी पर चांदी के सिक्के मिलते हैं।

१७ सं० २०१२ में गोवर्धन दास शर्मा, इनवर सिटी के, पं० जवाहरलाल नेहरू को बुलाये थे। तभी डाक बगला बनाने को कह गये थे तब १८०० बीधा को किले के अन्दर सड़क बनाया था। सब जगह को देखने को पुलिस पहरा काफी था इस वक्त किले की रौनक से मन्दिर बहुत सुभाषमान दिखता था और कहावत में कहा गया कौशाम्बी नगरी के ईंटे सब सोने के हैं। बरसात में मोती सिक्का हर एक प्रकार के मिलते हैं। महाभारत के समय में चमकती थी, यहाँ से बहुला गाय भगवान पद्मप्रभु के तपोभूमि में चारा चरने जाती थी वहीं पहाड़ पर शेर से भेंट हुई। पहाड़ के नीचे भरतजी ने अपने हाथ से नदी बनायी है अभी उसमें पानी रहता है, महावीर भगवान के समय कौशाम्बी पफोसा के अन्दर दस हजार मन्दिर धर्मशाला मौजूद थे। दिगम्बर जैन मूर्तियाँ अभी छोटेगाँव में पड़ी हुई हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

योग परम्परा में आचार्य हरिभद्र का योगदान

– डा० (कु०) अरूणा आनन्द

हरिभद्र सूरि (८ वीं शती) श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के एक ऐसे लब्ध कीर्ति आचार्य हैं जिन्होंने अपने विशद्द ज्ञान, चिन्तन एवं अनुभूति की अप्रतिम आभा से जिन-शासन को आलौकिक कर महान उपकार किया हैं। उनका व्यक्तित्व वैदिक बौद्ध एव जैन–इन तीनों परम्पराओं के गहन अध्ययन से ओत-प्रोत था। उन्हों अपनी असाधारण सर्वतोमुखी प्रतिभा, बहुश्रुतता निष्पक्ष विचारधारा, समता एवं माध्यस्थ वृत्ति द्वारा आचार, दर्शन, योग, कथा स्तुति, ज्योतिष आदि अनेक विषयों पर ग्रन्थ रचना की। उनकी सूक्ष्म एवं समन्वयात्मक दृष्टि द्वारा प्रसूत साहित्य में विविधता, सर्वांगीणता तथा गम्भीरता के साथ साथ तुलनात्मक, समन्वयात्मक, उदार एवं व्यापक दृष्टि का दर्शन होता हैं जो उनके योग विषयक ग्रन्थों में स्पष्टतः देखा जा सकता है। प्रस्तुत निबन्ध में आचार्य हरिभद्र सूरि ने योग परम्परा में किस प्रकार अपना अभूतपूर्व योगदान दिया, इस विषय पर विचार किया गया है।

प्रागैतिहासिक काल से आत्म-विकास हेतु प्रचलित साधनामार्गों / पद्धतियों में योग का प्रमुख स्थान रहा हैं। सिन्धुघाटी के अवशेषों से प्राप्त ध्यानस्थ योगी का चित्र उक्त तथ्य का पोषक प्रमाण है।[१] यद्यपि वेद[२], उपनिषद[३], महाभारत[४], गीता[५] योगवासिष्ठ[६], न्याय[७] वैशेषिक[८], सांख्य[९] योग[१०] आदि सभी आस्तिक दर्शनों में योग का उल्लेख हुआ है, तथापि योग को व्यवस्थित एवं सम्यक् स्वरूप प्रदान करने का श्रेय योगसूत्र के रचयिता महर्षि पतंजलि को है। अतः योग दर्शन का प्रतिपादक ग्रन्थ पातजल योग सूत्र ही है। इस ग्रन्थ में केवल दार्शनिक पक्ष (तत्व चिन्तन) का ही निरूपण नहीं हुआ अपितु आत्मिक उन्नति के व्यावहारिक पक्ष को प्रधान रूप से प्रतिपादित किया गया है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जहाँ तक जैन परम्परा का सम्बन्ध है, योग सूत्र की तरह ही इसमें भी सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा आचार पक्ष को अधिक महत्व दिया गया है। जैन तीर्थंकरों ने भी अपने उपदेश साधनामय जीवन में आगे बढ़ते हुए उच्चतम स्थिति पर तत्वों का साक्षात्कार करने के पश्चात् ही दिए हैं। इस प्रसंग में यह विशेष उल्लेखनीय हैं कि प्राचीन भारतीय साधकों ने संकीर्णता की सदा उपेक्षा की है और उदारता पूर्वक विविध सम्प्रदायों में प्रचलित योगक्षेमकारी सिद्धान्तों और साधना के मार्गों को बिना किसी संकोच के स्वीकार करते हुए विचारों का आदान-प्रदान किया है। इस दृष्टि से स्वाभाविक है कि वर्णन शैली में भिन्नता होने पर भी पातंजलयोग एवं जैन योग-पद्धति में परस्पर समानता या अविरोध हो।

जैन परम्पूरा समन्वयवादी दृष्टिकोण की पक्षधर रही है। इस परम्परा के आचार्यों ने समय-समय पर समस्त दर्शनों में निहित वैचारिक साम्य तथा अविरोधी परम सत्य की ओर इंगित कर उदारता का सूत्रपात किया है। इन आचार्यों में आचार्य हरिभद्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि उन्होंने प्रत्येक भारतीय दर्शन को परम सत्य का अंश बताकर उन सभी दर्शनों की परस्पर दूरी को मिटाने का प्रयास किया है। उनका अभिमत है कि भिन्न-भिन्न शब्दों में ग्रथित सभी ग्रन्थ एक ही लक्ष्य व परमतत्व का हीं प्रतिपादन करते हैं।[११]

यह स्मरणीय है कि एक तो आचार्य हरिभद्र मूलत: ब्राह्मण थे,[१२] श्रमण परम्परा को उन्होंने बाद में अंगीकार किया था,[१३] इसलिये उनका ब्राह्मण-परम्परा से प्रभावित होना स्वाभाविक था। दूसरा उनका स्थिति-काल ईसा की ८ वीं शती एक ऐसा समय था, जब वैदिक परम्परा में योग-दर्शन पर विविध टीका-प्रटीकाओं का लेखन कार्य प्रारम्भ हुआ था। साथ ही पतंजलि के अष्टांग योग से भिन्न अन्य योग शाखाओं के ग्रन्थ भी इस काल के आसपास ही लिखे जाने प्रारम्भ हुए थे।[१४] यही नहीं उस युग में वज्रयान सहजयान, तन्त्रयोग, मन्त्रयोग शैवयोग, सिद्धयोग आदि विभिन्न परम्पराओं के आचार्यो द्वारा भिन्न-भिन्न योग प्रणालियों का प्रचार कर जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया जा रहा था।[१५] दूसरी ओर, धर्मगुरूओं के पाण्डित्य एवं चारित्र का ह्रास भी हो रहा था।[१६] ऐसे समय में आचार्य हरिभद्र ने सामान्य जनता को दिग्भ्रमित होने से बचाने के लिए भारतीय योग-साधना का सार व समन्वित रूप जनता के समक्ष प्रस्तुत कर अपने उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया। जैन योग के क्षितिज पर तो वे उद्‌भावक आचार्य के रूप में प्रकट हुए। उनसे पूर्व योग विषयक जैन विचारों में परम्परागत आगम-शैली का ही प्राधान्य था।[१७] उन्होंने परम्परा से चली आ रही योग की आगम प्रधान शैली को तत्कालीन परिस्थिति एवं लोकरुचि के अनुरूप परिवर्तित कर नवीन दिशा प्रदान की तथा अपनी

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सर्वतोमुखी प्रतिभा, चिन्तन एवं अनुभूति की अप्रतिम आभा से अनेकविध योग ग्रन्थों का निर्माण कर जैन योग साहित्य में अभिनव युग की स्थापना की। उनके द्वारा रचित योग विषयक ग्रन्थ-योगबिन्दु योगदृष्टि समुच्चय, योगशतक तथा योग विंशिका इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। षोडशक के कुछ प्रकरणों में भी योग विषयक सामग्री मिलती है जो उक्त ४ ग्रन्थों में ही उपलब्ध हो जाती हैं। इसकी वर्णन शैली योग विंशिका के सदृश ही है। आचार्य हरिभद्र ने अपनी समन्वयात्मक एवं तुलनात्मक शैली द्वारा योग को अभिनव दिशा कैसे प्रदान की और योग परम्परा को अपना क्या योगदान दिया इसे जानने के लिए उनके ग्रन्थों में पाई जाने वाली कुछ विशिष्टताओं पर दृष्टिपात करना उचित होगा।

(अ) योग की व्युत्पति एवं अर्थ

व्याकरण शास्त्र में योग शब्द की व्युत्पति युज् धातु से मानी गई है। पाणिनि व्याकरण के अनुसार युज् धातु दो अर्थों में प्रयुक्त है :— १. संयोग (जोड़ना)[१९] और २. समाधि।[२०] पतंजलि कृत योगसूत्र में योग समाधि अर्थ में स्वीकृत है,[२१] जबकि आचार्य हरिभद्र ने सर्वत्र संयोगार्थक योग को ही स्वीकार किया है। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से दोनों परम्राओं में भिन्नता दृष्टिगोचर होती हैं परन्तु सूक्ष्म रूप से विचार करने पर इस भिन्नता में भी समानता का आभास होता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि "समाधि" साध्य का और "संयोग" साधना का प्रतीक है और दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। बिना साध्य के साधन की और बिना साधन के साध्य की सिद्धि नहीं होती। इसी दृष्टिकोण के आधार पर महर्षि पतंजलि ने "योग" शब्द का प्रयोग किया है। उनके योग सूत्र में वर्णित आठ योगांगों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि) में समाधि जहाँ साध्य है वहाँ समाधि से पूर्ववर्ती यम, नियम (जिसमें क्रियायोग भी समाहित है) आदि साधन हैं।[२३] इन आठ अंगों की समाष्टि ही सम्पूर्ण योग है। इस प्रकार पतंजलि द्वारा स्वीकृति समाध्यर्थक योग में संयोगार्थक (साधनपक्ष) योग भी समाहित है। इसी प्रकार आचार्य हरिभद्र के मोक्षप्रापक व्यापार (धर्म) रूप संयोगार्थक योग में समाध्यर्थक योग भी अन्तर्निहित है। सम्भव है कि आचार्य हरिभद्र ने योगी याज्ञवल्क्य स्मृति,[२४] योगशिखोपनिषद्[२५] एवं अन्य प्राचीन ग्रन्थों[२६] से प्रभावित होकर तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप योग के संयोगार्थ (साधनपक्ष) को स्वीकारा हो।

योग का व्यापक एवं समन्वयात्मक लक्षण

महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग की संज्ञा दी है जबकि

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्राचीन जैनागमों में मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों को "योग" कहा गया है।[27] जैनागमों में आध्यात्मिक साधना के सन्दर्भ में योग शब्द की अपेक्षा "संवर" शब्द अधिक प्रयुक्त हुआ है तथा समाधि[28], तप[29], ध्यान[30] आदि शब्दों का प्रयोग "योग" के समान अर्थ में हुआ है।

आचार्य हरिभद्र ने जैनागमों की उपर्युक्त परम्परा से हटकर योग का आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत करते हुए कहा है—"वे सभी धर्म व्यापार योग हैं जो मोक्ष की प्राप्ति कराते है।[32] उनका यह योग लक्षण एक व्यापक दृष्टिकोण लिए हुए हैं। जिसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह हैं कि जैन आगमिक परम्परा में मन, वचन और काय के व्यापार रूप में सीमित "योग" जैनेतर परम्परा सम्मत आध्यात्मिक योग के रूप में भी जाना जाने लगा। अर्थात् जैनेतर परम्परा के योग दर्शन में स्वीकृत योग का जैन परम्परा में प्रवेश हो गया। जैसा कि आचार्य हरिभद्र ने स्वयं कहा है, उनके योग लक्षण का वही अर्थ है जो पतञ्जलि के चित्तवृत्ति निरोध रूप योग[34] तथा बौद्ध परम्परा के कुशल प्रवृत्ति रूप योग[35] का है। केवल तीनों की निरूपण शैली में अन्तर है। पतञ्जलि का योग लक्षण निषेधात्मक (अभावात्मक) है जबकि बौद्ध परम्परागत योग-लक्षण विधेयात्मक (भावात्मक) है। आचार्य हरिभद्र ने मोक्ष प्रापक सर्व विशुद्ध धर्म व्यापार रूप योग लक्षण में उपरोक्त दोनों परम्पराओं के योग-लक्षण का समावेश करके तुलनात्मक दृष्टि का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त आचार्य हरिभद्र ने अपने योग-लक्षण में जैन आगमोक्त "रत्नत्रय" की साधना और उसकी अन्य सहायक अवान्तर क्रियाओं का भी समावेश दर्शाया है।[36] इतना ही नहीं, उन्होंने जैन आगमिक परम्परा के योग सम्बन्धी सांसारिक प्रवृत्तिपरक लक्षण का आध्यात्मिक योग से सम्बन्ध बताने के लिए समस्त कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापारों के अयोग (निरोध) को मोक्ष साधक योग के रूप में प्रस्तुत किया है। निवृत्ति मार्गी जैन परम्परा को ध्यान में रखते हुए उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि सर्वसन्यास (मन, वचन, काय की समस्त प्रवृत्तियों का त्याग) ही योग का लक्षण है[37]। आचार्य हरिभद्र द्वारा निरूपित उक्त योग लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य हरिभद्र की दृष्टि पातञ्जल योग में प्रतिपादित चित्तवृति निरोध रूप योग तथा जैन परम्परा में समर्थित अयोग व सर्वसन्यास रूप योग दोनों का समन्वित रूप प्रस्तुत करने की रही है। पतञ्जलि के चित्तवृत्ति निरोध रूप योग में सम्प्रज्ञात योग और असम्प्रज्ञात योग दोनों समाहित हैं। सम्प्रज्ञात योग में चित्तवृत्तियों का विरोध तो हो जाता है परन्तु उनके संस्कार शेष रह जाते हैं जबकि असम्प्रज्ञात योग में सर्ववृत्ति निरोध हो जाता है। आचार्य हरिभद्र के सर्वसन्यास योग पद से भी यही अभिप्रत है। उक्त तथ्यों से आचार्य हरिभद्र की समन्वयवादिता स्पष्ट झलकती है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

योग-भेद

योग सूत्र में चित्तवृत्ति निरोध रूप योग को दो भागों में बाँटा गया है—(१) सम्प्रज्ञात और (२) असम्प्रज्ञात।[३८] चित्तवृत्ति निरोध रूप योग की वह अवस्था जिसमें ध्येय के स्वरूप का संशय तथा विपर्यय रहित यथार्थ ज्ञान होता है, सम्प्रज्ञात योग समाधि कहलाती है।[३९] सम्प्रज्ञात योग चित्त की एकाग्रावस्था में ही सम्भव है। क्योंकि इसमें बाह्य चित्तवृत्तियों का तो निरोध हो जाता है परन्तु सात्विक अक्लिष्टात्मक ध्येयाकार वृत्ति शेष रहती है। अतः चित्त को समाहित करने के लिए चित्त किसी विषय विशेष का आलम्बन लेकर उसके साथ एकाकार वृत्ति धारण कर लेता है।[४०] इस अवस्था में विषय के साक्षात्कार का क्रम स्थूल में सूक्ष्म की ओर होता है।[४१] यहाँ यह ध्यातव्य है कि पूर्व-पूर्व अवस्था में उत्तरोत्तर अवस्था के विषय का अस्पष्ट चिन्तन रहता है लेकिन उत्तरवर्ती अवस्था में पूर्व-पूर्व अवस्था के विषय का चिन्तन छूटता जाता है।[४२]

सम्प्रज्ञात योग समाधि के भी चार भेद हैं—वितर्कानुगत विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।[४३] इन चारों में किसी न किसी ध्येय रूप बीज का आलम्बन विद्यमान रहता है इसलिए इन्हें सालम्बन[४४] तथा सबीज समाधि[४५] भी कहा जाता है।

चित्त की वह अवस्था जिसमें समस्त चित्तवृत्तियाँ पूर्ण रूपेण निरूद्ध हो जाती हैं, असम्प्रज्ञात योग समाधि कहलाती है।[४६] इस अवस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय रूप त्रिपुटी का भान नहीं होता और कुछ भी ज्ञेय नहीं रहता चित्त की यह अवस्था शान्त एवं संस्कार रहित होती है।[४७] इसमें किसी धातु का आलम्बन भी नहीं रहता इसलिए इसे निरालम्बन या निर्बीज समाधि कहा जाता है।[४८] असम्प्रज्ञात समाधि के भी दो भेद होते हैं :—भव प्रत्यय और उपाय प्रत्यय।[४९] भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि तो पूर्व जन्म के संस्कारों से प्राप्त होती है[५०] और इससे इतर उपाय प्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा आदि उपायों से प्राप्त होती है।[५१] अतः उपाय प्रत्यय ही वास्तविक योग/समाधि है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पतञ्जलि द्वारा निरूपित उक्त योग-भेद आध्यात्मिक विकास की क्रमिकता को सूचित करते हैं।

आचार्य हरिभद्र ने भी आध्यात्मिक योग साधना के क्रमिक सोपानों को संकेतित करने के लिए योग के विभिन्न भेद किए हैं। उन्होंने योगशतक में निश्चय एवं व्यवहार की दृष्टि से योग को दो भागों में तथा साधक द्वारा किए जाने वाले धार्मिक

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

व्यापारों के आधार पर इच्छा, शास्त्र एवं सामर्थ्य-तीन भागों[५३] में विभक्त किया है। योग बिन्दु में योग के अध्यात्म, भावना ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय[५३]-पांच भेद तथा योग विंशिका[५५] तथा षोडशक[५६] में स्थान, ऊर्ण (वर्ण) अर्थ आलम्वन और अनालम्वन पांच भेद बताए हैं। उनके योग ग्रन्थों में साधक की उन्नति के आधार पर स्थानादि भेदों के अनेक भेद-प्रभेदों का निरूपण भी हुआ है।[५७] स्थानादि पांच योग-भेदों का बाह्य एवं आध्यान्तर व्यापार से सम्बन्ध बताने के लिए इनको कर्मयोग एवं ज्ञानयोग में विभाजित किया गया है।[५५]

योग-साधना का यथार्थ प्रारम्भ सम्यक्दृष्टि से होता है। जब जीव पर से अनादिकालीन मिथ्यात्व का आवरण हट जाता है अर्थात उसका ग्रन्थि भेद हो जाता है तभी साधक मोक्ष मार्ग की विकसित अवस्थाओं पर आरोहण करने में समर्थ होता है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र ने इच्छादि त्रिविध, अध्यात्मादि तथा स्थानादि पांच-पांच योग भेदों को जैन गुण स्थान क्रम से जोड़ने का प्रयास किया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि इन साधनों का अभ्यास देशविरति, सर्वविरति अथवा उससे उच्च अवस्था प्राप्त जीव ही कर सकता है।[५९] उन्होंने ध्यान की विभिन्न अवस्थाओं को भी गुण स्थान की विभिन्न अवस्थाओं से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है।[६०]

आचार्य हरिभद्र ने उक्त योग भेदों की पतञ्जलि कृत योग भेदों से तुलना करते हुए साम्य दर्शाने का प्रयत्न भी किया है। उन्होंने अध्यात्मादि पांच योग-भेदों में से प्रथम चार को पतञ्जलि के सम्प्रज्ञात योग (समाधि[६१] तथा अन्तिम भेद वृत्ति-संक्षय को असम्प्रज्ञात योग (समाधि) के सदृश बताया है[६२] जबकि उपाध्याय यशोविजय ने वृत्तिसंक्षय नामक अन्तिम योगभेद में ही सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनों का समावेश कर दिया है[६३]

जैन परम्परागत स्थानादि पांच योग भेदों में स्थान[४] नामक प्रथम भेद यद्यपि पतंजलि के तृतीय योगांग आसन के सदृश है तथापि अपेक्षाकृत धिक व्यापक दृष्टिकोण रखता है। उर्ण एवं अर्थ[७] पतञ्जलि के जप[८] के सदृश हैं। आलम्वन[९] सप्तम योगांग ध्यान[७०] से तथा अनालम्बन[७१] आठवें योगांग समाधि[७२] से साम्य रखता है। जिस क्रम से इन स्थानादि योगों की सिद्धि होती है तदनुरूप उनके भेद-प्रभेद करके आचार्य हरिभद्र ने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया है।

उक्त योग भेदों के निरूपण से यह परिलक्षित होता है कि साधना की निम्न-कोटि में ही बाह्य क्रियाकाण्ड कुछ महत्व रखते हैं। साधना की उच्चकोटि में ध्यान की उत्तरोत्तर अवस्था पल्लवित होती जाती है और समस्त क्रियाकाण्ड स्वत: छूट जाते

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

हैं। योग भेदों का विविध परिप्रेक्षों में निरूपण कर आचार्य हरिभद्र ने यह संकेतित करने का प्रयास किया है कि भारतीय योग साधना के सोपान विविध रूपों में वर्णित किए जा सकते हैं।

योग साधना के क्रमिक सोपान

साधक योग साधना के सोपानों पर विकास के क्रमानुसार आरोहण करता हुआ अन्त में मोक्ष प्राप्त करने में सफल होता है। आध्यात्मिक विकास के क्रम में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की सभी अवस्थाएँ समाविष्ट हो जाती हैं। महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र में इस आध्यात्मिक विकास का वर्णन क्षिप्तादि पांच भूमिकाओं के रूप में हुआ है[७३] जबकि जैन आगमिक परम्परा में आध्यात्मिक विकास क्रम का वर्णन १४ गुणस्थानों के माध्यम से किया गया है।[७४] कुछ स्वतन्त्र चिंतकों ने त्रिविध आत्मा[७५] अथवा त्रिविध उपयोग[७६] इन तीन सोपानों में ही आध्यात्मिक विकास का क्रम निरूपित किया है। आचार्य हरिभद्र ने उक्त विविध निरुपणों से पृथक स्वतन्त्र रूप से दृष्टियों के माध्यम से आध्यात्मिक विकास क्रम की विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण किया है। दृष्टि से अभिप्राय हैं—सत्य के प्रति श्रद्धायुक्त बोध। उक्त बोध साधक की असत् प्रवृत्ति को नष्ट कर सत्प्रवृत्ति की ओर ले जाता है।[७८] विकास की प्रत्येक अवस्था साधक को क्रमशः एक नवीन दृष्टि प्रदान करती है। सम्भवतः इसलिए आचार्य हरिभद्र ने इन्हें 'दृष्टि' नाम से सम्बोधित किया है।[७९]

जैन दर्शनानुसार असत् बोध तब तक होता है, जब तक आत्मा की मोह-रागमयी ग्रन्थि का भेद नहीं हो जाता। ग्रन्थि भेद हुए बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती और सम्यग्दर्शन को प्राप्त किए बिना साधक मोक्ष मार्ग में उन्नति नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में योग साधना का यथार्थ प्रारम्भ सम्यग्दृष्टि से ही होता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से पूर्व जो असत् बोध होता है उसे ही मिथ्यादर्शन, दर्शन मोहनीय, मिथ्यात्व अथवा अविद्या के नाम से जाता है।[८०] सामान्य व्यक्ति की दृष्टि अनादिकालीन प्रगाढ़ मिथ्यात्व से युक्त होती है और उसमें नाना प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम की विचित्रता होती है इसलिए इसे ओघ दृष्टि के नाम से अभिहित किया गया है।[८१] ओघदृष्टि वाले जीव में विवेक और अज्ञान का अभाव होता है इसलिए उसकी दृष्टि संसाराभिमुखी होती है। इस प्रकार ओघ दृष्टि संसार के प्रवाह में पतित अविद्या में निमग्न व्यक्ति की चेतना की अवस्था है। पतंजलि के अनुसार अविद्या ही सभी क्लेशों की जड़ है और स्वयं भी महाक्लेश है।[८२] ओघदृष्टि से विपरीत जो सत् दृष्टि होती है उसे ही योगदृष्टि कहा गया है क्योंकि इस अवस्था में जीव के भावमल रूप कर्मों का क्षय होने से जीव चरमपुद्गलावर्त में प्रवेश करता है जिससे उसमें सम्य-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

न प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है। अतः ओघदृष्टि से ऊपर उठकर साधक दृष्टि में प्रवेश करता है। विद्वानों का मत है कि आचार्य हरिभद्र द्वारा किया गया दृष्टि व योगदृष्ठि का उपर्युक्त विभाजन बौद्ध परम्परा से अनुप्राणित है।[८३] चार्य हरिभद्र ने जीव के कर्ममल की तारतम्यता के आधार पर योगदृष्टियों को आठ गों में विभाजित किया है जिनके नाम हैं–मित्रा तारा, वला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, ा और अपरा।[८४] जैसे-जैसे आत्मा का कर्म मालिन्य घटता जाता है, वैसे वैसे मा विशुद्धि की ओर बढ़ती जाती है। परिणामस्वरूप साधक की दृष्टि भी विक-त होती जाती हैं। उसके समक्ष जो अज्ञ न का अधकार होता है वह धीरे-धीरे कम ता जाता है और बोध रूपी प्रकाश बढ़ता जाता हैं जिससे साधक को आगे का मार्ग ष्ट दिखाई देने लगता है। इससे उसका आगे बढ़ने का उत्साह भी बढ़ता जाता । बढ़ते-बढ़ते वह अन्त में पूर्णता (पूर्ण प्रकाश-ज्ञान) प्राप्त कर लेता है। आचार्य रिभद्र ने परिणामों की विशुद्धि के इस क्रम को विकासशील योग-दृष्टियों के रूप में स्तुत किया है।

योगदृष्टियों में जो प्रथम चार दष्टियाँ हैं वे यद्यपि विकासशील हैं तथापि नमें अज्ञान व मोह का प्राबल्य रहता ही हैं जबकि पश्चातवर्ती चार दष्टियों में ज्ञान था चारित्र की प्रबलता रहती है क्योंकि वहाँ अज्ञान तथा मोह क्षीण हो जाते हैं।[८५] स प्रकार प्रकारान्तर से ये गुणस्थानों का ही निरूपण है।

आचार्य हरिभद्र ने योगदष्टियों के जो लक्षण दिए हैं उनपर दष्टिपात करने से ऐसा आभास होता है कि हरिभद्र के समक्ष आध्यात्मिक विकास की प्रणाली में क्रमिक अवस्थाओं की तीन महत्वपूर्ण विवेचनाऐं रही होंगीं जिनको उन्होने आठ दृष्टियों के रूप में निरूपित कर उनमें साम्य दिखाने का प्रयास किया है। आचार्य हरिभद्र का मत है कि है कि योग दृष्टि में प्रवेश करके साधक जब यम-नियम आदि ८ योगांगों का अभ्यास करता है तब उसमें विद्यमान खेद, उद्वेग आदि ८ दोष क्रमशः नष्ट होते जाते हैं और उद्वेष, जिज्ञासा आदि आठ गुण उत्पन्न होते जाते हैं तथा मित्रादि आठ दृष्टियाँ उदित होती जाती हैं।[८६] ये आठ दृष्टियाँ क्रमशः तृणाग्नि, कण्डाग्नि, कोष्ठाग्नि, दीपकाग्नि, रत्नप्रभा, नक्षत्रप्रभा, सूर्यप्रभा तथा चन्द्रप्रभा से तुल्य कही गई हैं जो उत्त-रोतर बृद्धि की द्योतक हैं।[८७]

(शेष अगले अंक में)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कृत समयसार टीका का दार्शनिक अनुशीलन

शोध प्रबन्ध—सार

डा० नागेन्द्र मिश्र

जैन परम्परा में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि परम आध्यात्मिक पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के लगभग एक हजार वर्ष बाद जैन परम्परा के अमृतचन्द्र ही ऐसे प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने कुन्दकुन्द के ग्रन्थत्रयी--समयसार, प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय पर क्रमशः आत्मख्याति, तत्त्वदीपिका तथा समयव्याख्या नाम की टीका लिखकर उनके विचारों को दार्शनिक रूप प्रदान किया है। आचार्य अमृतचन्द्र का टीका ग्रन्थ "आत्मख्याति" यद्यपि समयसार की टीका है, तथापि इसमें अमृतचन्द्र के आध्यात्मिक विचारों की मौलिकता स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। उक्त टीका ग्रन्थों के अतिरिक्त अमृतचन्द्र की मौलिक रचनाएँ भी हैं, यथा-पुरुषार्थसिद्‌युपाय, तत्त्वार्थसार तथा लघुतत्त्वस्फोट।

जैन परम्परा में कुन्दकुन्द के बाद तथा अमृतचन्द्र के पूर्व के बीच में आगमिक-आध्यात्मिकता का चिन्तन अत्यन्त ही न्युन रूप में उपलब्ध होता है। यहाँ अमृतचन्द्र ही ऐसे प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अध्यात्म का दार्शनिक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया है। अमृतचन्द्र का यह टीका ग्रन्थ-आत्मख्याति, जैन अध्यात्म के ग्रन्थों

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

की परम्परा में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज तक के समयसार की सभी टीकाओं का आधार ग्रन्थ मात्र "आत्मख्याति" ही रहा है। साथ-साथ इसके अतिरिक्त समयसार की कोई ऐसी अन्य टीका उपलब्ध नहीं होती है, जिसे इसकी तुलना में श्रेष्ठ व गम्भीर कृति के रूप में रखा जा सके। इस तरह यह कृति प्रत्येक स्थिति में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ सिद्ध होती है जिसका शोधपूर्ण अध्ययन होना आवश्यक है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत शोध का विषय "आचार्य अमृतचन्द्र सूरि कृत समयसार टीका का दार्शनिक अनुशीलन" बनाया गया।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है।

प्रथम अध्याय का शीर्षक प्रस्तावना है। इस अध्याय के प्रथम भाग में ग्रन्थ परिचय तथा अन्य टीकाओं का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम जैनधर्म का सामान्य परिचय दिया गया है, जिसमें इसकी ऐतिहासिकता एवं प्राचीनता के साथ–साथ इसके अध्यात्मिक सिद्धान्त व आचार पक्ष का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। इसके पश्चात् जैन संस्कृति के मूल एवं प्राचीन साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। तथा इस साहित्य के सन्दर्भ में समयसार का स्थान निरूपित किया गया। यहाँ यह पाया गया है कि जैन साहित्य के परिप्रेक्ष्य में आध्यात्मिक ज्ञान के उद्बोधक के रूप से समयसार को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। तदनन्तर समयसार की महत्त्वपूर्ण टीकाओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया हैं। यहाँ शोध-विषय आचार्य अमृतचन्द्र सूरि कृत समयसार टीका आत्मख्याति के साथ-साथ जयसेनाचार्य की समयसार टीका "तात्पर्यवृति" का भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। समयसार की टीका के रूप में यही दो टीकाएँ सर्वाधिक चर्चित एवं महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अनन्तर आचार्य अमृतचन्द्र की टीका 'आत्मख्याति" के दार्शनिक महत्त्म को दर्शाया गया है, जो हमारे शोध का विषय हैं।

प्रस्तावना के द्वितीय भाग "लेखक परिचय: व्यक्तित्व व कर्तृत्व" में सर्वप्रथम आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व–परिचय तथा जीवन-वृत्त का परिचय दिया गया है। यद्यपि आचार्य के सम्बन्ध में निश्चित जीवन परिचय का मिलना दुष्कर है, तथापि इनकी कृतियों एवं अन्य जैन आचार्यो को कृतियों के आधार पर कुछ लिखने का प्रयास किया गया हैं। इसके बाद अमृतचन्द्र की सभी टीकाओं व मूल कृतियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् इनकी कृतियों पर समालोचनात्मक दृष्टि डाली गयी है। इस अध्याय के अन्त में जैन परम्परा में आचार्य अमृतचन्द्र सूरि का स्थान निरूपित किया गया।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

द्वितीय अध्याय-आत्मतत्व विवेचन का है। समयसार आत्मा विषयक ग्रन्थ है। इसकी टीका में प्रतिपादित आत्मतत्त्व को स्पष्ट करने हेतु सर्वप्रथम वेद से लेकर वेदान्त तक के आत्मा से सम्बन्धित विचारों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् जैन दर्शन के आत्मविचार एवं इसके स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

यहाँ समयसार की टीका "आत्मख्याति" के अनुसार आत्मतत्व का विशद् विवेचन किया गया है। कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व, बन्ध एवं मोक्ष सन्दर्भ में आत्मा का विवेचन करना टीका का मूल उद्देश्य है। यहाँ आत्मा की दो अवस्थाओं का वर्णन है-(१) स्वसमय, (२) परसमय। स्वसमय ही समयसार टीका का शुद्ध एवं वास्तविक आत्मा है, जो समस्य प्रकार के कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व भावों से परे तथा बन्ध एवं मोक्ष की प्रक्रियाओं से रहित है। यह सदा अपने वास्तविक गुणों में स्थित होकर मुक्त ही रहता हैं। रागादिक रूप परिणमन करने वाला आत्मा परसमय है। यह जब अपने वैभाविक गुणों का आश्रय लेता है, तब यह परसमय होता है। अन्त में यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है कि समयसार की टीका में वर्णित आत्म-विचार किस तरह जैन आत्मवाद को प्रभावित करता है।

तृतीय अध्याय-पुण्य-पाप का स्वरूप है। इसके अन्तर्गत पुण्य-पाप का विवेचन किया गया है। "पुण्य-पाप समयसार तथा इसकी टीका "आत्मख्याति" का एक अधिकार (अध्याय) है। इस अध्याय में सर्वप्रथम पुण्य-पाप की धारणा का कतिपय धार्मिक चिन्तनों के सन्दर्भ में विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् जैन परम्परा में मान्य पुण्य-पाप से सम्बन्धित विचारों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। तदुपरान्त अमृतचन्द्राचार्य एवं इनकी टीका "आत्मख्याति" में वर्णित पुण्या-पाप के स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। टीका के पुण्य-पाप की धारणा को स्पष्ट करने हेतु बन्ध एवं मोक्ष की अपेक्षा से पुण्य-पाप का विवेचन किया गया है, तथा पाया गया हैं कि पुण्य तथा पाप दोनों प्रकार के कर्मों से बन्ध ही होता है। अन्त में पुण्य-पाप के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यांकन हेतु एक संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में आसव, संवर तथा निर्जरा की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया हैं। इस अध्याय में आस्रव का सामान्य परिचय देते हुए अमृतचन्द्राचार्य सम्मत समयसार की टीका "आत्मख्याति" का आस्रव विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यहाँ आस्रव के कारणों का उल्लेख "आत्मख्याति" के साथ-साथ अमृतचन्द्र की स्वतंत्र कृति तत्त्वार्थसार के अनुसार भी किया गया हैं। तत्पश्चात् स्पष्ट किसा गया है कि आस्रव ही बन्ध का कारण हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

संवर के सम्बन्ध में इसके सामान्य परिचय को प्रस्तुत करने के पश्चात् टीका "आत्मख्याति" का संवर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके बाद संवर हेतु उपाय का उल्लेख अमृतचन्द्र की टीका सहित इनकी अन्य कृतियों के आधार पर किया गया हैं। इसके बाद निर्जरा की अवधारण एवं इसके उपाय का विवेचन किया गया है। तदुपरान्त यह स्पष्ट किया गया है कि संवर तथा निर्जरा मोक्षमार्ग के साधन है। अन्त में "आत्मख्याति" में वर्णित आस्रव, संवर तथा निर्जरा से सम्बन्धित विचारों की विशिष्टता का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ आचार्य ने आस्रव के मूल कारण के रूप में "भेदज्ञान का अभाव" तथा संवर एवं निर्जरा का कारण "प्रज्ञा" यानी भेदज्ञान का होना बताया है।

पंचम अध्याय में बन्ध एवं मोक्ष की अवधारण का विवेचन किया गया है। इस अध्याय में सर्वप्रथम बन्ध के सामान्य परिचय के साथ-साथ इसके कारण एवं प्रकार का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यहाँ बन्ध का तात्पर्य आत्मा का विभाव रूप परिणमन अर्थात् अपने स्वभाविक गुणा से वंचित होकर, विभाव रूप धारण करना है।

मोक्ष से सम्बन्धित सामान्य धारण का भारतीय दर्शनों के सन्दर्भ में भी विवेचन किया गया है। इसके बाद जैन दर्शन के सन्दर्भ में मोक्ष तथा इसके स्वरूप का विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् समयसार की टीका "आत्मख्याति" के मोक्ष से सम्बन्धित विचारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार आत्मा का स्वभाव रूप परिणमन ही उसका मोक्ष है। यहाँ भेदज्ञान" तथा "प्रज्ञा" से मोक्ष का होना स्वीकार किया गया हैं। इसके अनन्तर त्रिविध मोक्ष मार्ग का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिसे जैन परम्परा में 'त्रिरत्न' भी कहा जाता है। यहाँ बन्ध एवं मोक्ष के विषय पर विचार किया गया हैं तथा पाया गया है कि निश्चय नय से निर्धारित स्वरूप सम्पन्न जीव या आत्मा बन्ध तथा मोक्ष का विषय कदापि नहीं हैं। बन्ध एवं मोक्ष का विषय अज्ञानी आत्मा अर्थात् परभावों में परिणमन करने वाला, आत्मा तथा पुद्गल कर्म हैं जिनके आपसी संयोग से बन्ध प्राप्त कराने वाले भाव बनते हैं। इस अध्याय के अन्त में "आत्मख्याति" सममत मोक्ष विचारों की भारतीय दर्शनों के साथ संक्षिप्त तुलना प्रस्तुत की गयी है।

षष्ठ अध्याय में स्याद्वाद का विवेचन किया गया हैं। स्याद्वाद अधिकार अमृतचान्द्राचार्य की समयसार टीका आत्मख्याति का अन्तिम एवं एक स्वतंत्र अधिकार "आत्मख्याति" में प्रतिपादित विषयों के क्रम के अनुकूल यहां "स्याद्वाद का स्वरूप"

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

नामक अध्याय शोध–प्रबन्ध के षष्ठ अध्याय अर्थात् अन्तिम अध्याय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें सर्वप्रथम स्याद्वाद का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है, जिसमें स्याद्वाद की उदभूति व व्युत्पत्ति, अनेकान्तवाद से इसका सम्बन्ध, नय, सप्तभंगी आदि का विवेचन किया गया है।

यह अधिकार "आत्मख्याति" का मौलिक अधिकार हैं। जो मात्र उन्नीस कलशों (श्लोकों) में वर्णित है। यहां इस अध्ययन के क्रम में यह स्पष्ट होता है कि स्याद्वाद के मूल बीज समयसार में उपलब्ध है। जिनको अमृतचन्द्राचार्य ने अपनी टीका में स्याद्वाद नामक एक स्वतंत्र अधिकार जोड़कर पल्लवित एवं पुष्पित किया हैं। तदनन्तर अमृतचन्द्र के अलग से इस अधिकार को टीका का अंग बनाने के कारण तथा औचित्य पर विचार किया गया है। इसके अनन्तर अमृतचन्द्र के पूर्व की स्याद्वाद की स्थिति एवं विकास पर संक्षिप्त विचार किया गया है। तत्पश्चात् अमृतचन्द्र सम्मत स्याद्वाद का विशद् वर्णन किया गया है। इसके बाद स्याद्वाद के सम्बन्ध में अमृतचन्द्र की विशिष्टता का प्रतिपादन किया गया हैं वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में आत्मा के वर्णन हेतु स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन इसकी विशिष्टता के साथ करने वाले अमृतचन्द्र एकमात्र आचार्य हैं।

सप्तम अध्याय उपसंहार का है। इस अध्याय में सर्वप्रथम कुन्दकुन्द तथा अमृतचन्द्र की कृति क्रमशः समयसार तथा इसकी टीका "आत्मख्याति" के आलोक में कुन्दकुन्द तथा अमृतचन्द्र के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् समयसार में वर्णित तथ्यों को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यहाँ आत्मख्याति में प्रतिपादित तत्त्वों-जीव, अजीव, पुण्य पाप, सास्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध एवं मोक्ष के वर्णन की बिशिष्टता का परिचय दिया गया है। यहाँ बन्ध तथा इसकी प्रेरक अवस्था आस्रव तथा उसका मूल कारण अज्ञान तथा मोक्ष एवं इसकी प्रेरक अवस्थासंवर तथा निर्जरा का मूल कारण "प्रज्ञा" या 'ज्ञान" कहा गया है। तदुपरान्त आत्मख्याति सम्मत आत्माकी अवधारणा के साथ चार्वाक, बौद्ध, न्याय-वैशेषिक, साँख्य, मीमांसा, अद्वैत तथा विशिष्टताद्वैत मतो की संक्षिप्त तुलना प्रस्तुत की गयी है। यद्यपि उक्त सभी दर्शन आत्म विवेचन विभिन्न प्रकार से करते हैं एवं इसमें पर्याप्त वैभिन्य है तथापि आत्मा, इसके गुण, इसकी मोक्षावस्था की स्थिति आदि को ध्यान में रखते हुए संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन करने का प्रयास किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध कुन्दकुन्द कृत समयसार तथा अमृतचन्द्र कृत इसकी टीका आत्मख्याति का मुख्य प्रतिपाद्य विषय आत्मा के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

करता है। यहाँ समयसार की प्रमुख टीका के रूप में अमृतचन्द की आत्मख्याति के अतिरिक्त जयसेनाचार्य की समयसार की टीका तात्पर्यवृति का संक्षिप्त विवेचन कर के समयसार का विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। समयसार तथा इसकी उक्त दोनों टीकाओ के वर्णित तथ्यों में जीव, अजीव, पुण्य, पाप. आस्रव, संवर, निर्जरा बन्ध, मोक्ष तथा सर्वविशुद्धज्ञान आता है। इन सभी तत्त्वों में जीव तत्त्व प्रधान है। यही तत्त्व समयसार के अन्य तत्त्वों का केन्द्रबिन्दु हैं। यह जीव अपने स्वाभाविक स्थिति "ज्ञान" से वंचित होने के कारण पुण्य-पाप, आस्रव,-संवर निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष की स्थितियों से गुजरता है। मूल रूप में जीव बन्ध तथा मोक्ष की अवस्थाओं से रहित मात्र शुद्ध चैतन्य स्वरूप ज्ञायक मात्र है। इस शोध-प्रबन्ध का लक्ष्य आत्मख्याति में विवेचित आत्म तत्त्व तथा इसकी विभिन्न अवस्थाओं का व्यवहारनय तथा निश्चयनय से निरूपण करना है। यहाँ व्यवहार नय से जीव तथा इसकी समस्त स्थितियों को यथार्थ रूप में कल्पित कर निश्चय नय के सोपान तक की जीव की स्थिति का वर्णन किया गया है। निश्चय नय के अनुसार जीव मात्र शुद्ध एवं चैतन्य स्वरूप ज्ञायक मात्र है। इससे भिन्न किसी भी प्रकार का गुण जीव का वैभाविक गुण हैं।

जीव के सम्बन्ध में समयसार तथा इसकी टींका आत्मख्याति व्यवहार तथा निश्चय दो दृष्टिकोणों को अपनाती है। इन दोनों दृष्टिकोण से व्याख्यायित आत्म-चिन्तन. भारतीय दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय द्वारा विवेचित आत्म चिन्तन को किसी न किसी रूप में इंगित करता है। इस अर्थ में आत्मख्याति का आत्म चिन्तन समस्त भारतीय दर्शन के आत्म चिन्तन से सम्बन्ध रखता है। पुन व्यवहार नय का जीव विवेचन आगे चलकर निश्चय नय को विवेक में जागृत कराने का साधन बनता है तथा निश्चय नय द्वारा विवेचित आत्म चिन्तन ही समयसार कहलाता है। इस प्रकार व्यवहार नय को निश्चय नय में समाहृत होने के पश्चात् आत्मा का एक शुद्ध एवं दार्शनिक रूप प्रस्तुत होता है तथा इस विवेचन से ऐसा लगता हैं कि आत्मख्याति के आत्म विचार का भारतीय आध्यात्मिक दर्शनों से किसी प्रकार का मौलिक विरोध नहीं है। इसस्थिति में समयसार तथा इसकी टीका आत्मख्याति के आत्म विचारों को व्यापक दार्शनिक रूप प्रदान करने हेतु इसका अन्य भारतीय दर्शनों के आलोक में समालोचनात्मक अध्ययन होना चाहिए। इस स्थल पर ऐसा प्रतीत होता है कि इस समालोचनात्मक अध्ययन से आत्म तत्त्व विषयक विभिन्न पारम्परिक विरोध समाप्त होगे तथा आत्मा से सम्बन्धित विचारों का दार्शनिक समन्वय प्रस्तुत होगा और आत्म चिन्तन के सम्बन्ध में नये आयाम खुगें

—*—

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

शाकाहारी बननें की अपोल

—अल हफीज बशीर अहमद मसेरी

लन्दन मस्जिद के प्रसिद्ध इमाम अल-हफिज बशीर अहमद ने भारत पाकिस्तान और बंगला देश के मुसलमानों से शाकाहारी बनने की अपील की। वे स्वयं शाकाहारी हैं और लोगों को शाकाहारी बनने को प्रेरणा देते हैं। उनका कहना है कि किसी भी धर्म ग्रन्थ में मांस खाने की शिक्षा नहीं हैं। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "इस्लामिक कन्सन फार एनिमल" में इस्लाम धर्म के अनुसार ऐसे उदाहरण दिये हैं जों मनुष्य को जानवरों के प्रति दयालु होने की शिक्षा देते हैं। पशु पक्षियों पर अत्याचार को रोकने एवं उनका मांस नहीं खाना चाहिए। उन्होंने कहा कि मुसलमान भाई इस विषय में दिशा भ्रमित हैं। जो लोग जानवरों पर अत्याचार करते हैं वे मानवता के विपरीत हैं और पर्यावरण के लिए घातक राह पर चल रहे हैं। उन्होंने भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश में स्थान २ पर जाकर यह संदेश लोगों तक पहुंचाने का बीड़ा उठाया है वे चाहते हैं कि इस्लाम के नाम पर पशुओं की हत्या करना और मांस खाना सर्वथा अनुचित है जब उन्होंने जानवरों पर होने वाले अत्याचारों को मुस्लिम धर्म के अनुसार मनाही के बारे में पुस्तक लिखना प्रारंभ किया तो उनके बहुत से दोस्त आश्चर्य में पड़ गये तथा उन्होंने

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सलाह दी कि मुसलमानों के सामने बहुत सी अन्य समस्यायें हैं। उन्हें हल करने की पहल करें परन्तु मसेरी साहब ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया कि इस दुनिया पर जीवित प्राणी एक दूसरे का शोषण न करें। मनुष्य जानवरों का शोषण इसलिये करता है कि उसमें मानव जाति का भला होता है परन्तु वह जानवरो की हत्या का कारण बन जाता है। मानव जाति की समस्याऐं चाहे वे शारीरिक हो या आध्यात्मिक हों, वे स्वयं मनुष्य की बनाई हुई समस्याऐं हैं। जानवर कभी भी मनुष्य को जान बूझकर नुकसान नहीं पहुँचाते हैं तब मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये इन जानवरों पर अत्यार क्यों करता है? आध्यात्मिक दृष्टिकोण से बलि प्रथा का कोई औचित्य नहीं है फिर भी लोग आध्यात्मिक दृष्टिकोण से बलि चढ़ाते हैं। उन्होंने इस्लाम धर्म के अनुसार जानवरों के अधिकारों के बारे में उनके साथ मनुष्य का बर्ताव के बारे में स्पष्ट किया है। उनका दावा है कि मुस्लिम धर्म के अनुसार अन्य कहीं से इस विषय पर राय लेने की आवश्यकता नहीं है केवल इतना आवश्यक है कि जो मस्तिष्क में गलत धारनायें बनीं हुई हैं उन्हें हटायें। अध्यात्म के कर्म-काण्डों से वंचित रहने को भी सलाह दी है। मौलाना मसेरा एक पढ़े लिखे मुसलमान हैं जिन्हें हिन्दी अंग्रेजी उर्दू, पंजाबी और अरबी भाषाओं का अच्छा ज्ञान है। उन्हें पवित्र कुरान कण्ठस्थ याद है और वे एक सुन्नी मुसलमान हैं जो सर्व प्रथम शाहजहाँ मस्जिद लन्दन के प्रथम इमाम नियुक्त हुए थे। जानवरों के प्रति उनके हृदय में बहुत दर्द है और उनकी आत्मा की पुकार है कि मुसलमान भाइयो की उनकी बात हृदय में उतारनी चाहिये इससे उनकी आत्मा को बहुत शांति मिलेगी मसेरी साहेब की उम्र इस समय ७५ वर्ष की है परन्तु उनका स्वास्थ्य ५० वर्ष के एक कर्मठ व्यक्ति जैसा लगता हैं।

दिनांक ११ फरवरी, १९९० को भारतीय पशु कल्याण संस्थान / एनीमल वेलफेयर एसोसियेशन आफ इण्डिया ने मौलाना मसेरा साहब का हार्दिक स्वागत किया और उनसे प्रर्थना कि वे इस सयुक्त रास्ट्र संघ तक पहुँचाने में मदद करे और पशु कल्याण में लगे व्यक्तियों को विश्व स्तर पर पुरस्कार दिलाने के लिये लोगों को प्रेरित करें। मानव अधिकारों की तरह जानवरों की भी कुछ मौलिक अधिकार दिये जायें। भारतीय पशु कल्याण संस्थान के सभी सदस्यों ने यह बात स्पष्ट रूप से कही कि भारतवासी यांत्रिक और आधुनिकीरत बूचड़खानों का विरोध इसलिए करते हैं कि इससे पशुओं की अधिक हत्याऐं होगी। माँस का उत्पादन अधिक होगा जिससे सारे देश में माँसाहार को बढ़ावा मिलेगा और पशु हत्याओं में वृद्धि होगी। उन्होंने मसेरी साहब को वर्तमान भारतीय पशु कल्याण बोर्ड के अध्यक्ष प्रो० रामा–

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

स्वामी के वक्तव्यों की कड़ी आलोचना की और स्पष्ट रूप से कहा कि प्रो० रामास्वामी का दृष्टिकोण सर्वथा अनुचित है। मांस का निर्यात करने के लिए बूचड़खानों का नवीनीकरण करना पशुओं के साथ धोखा देना होगा और भारत की आर्थिक निर्भरता के लिए घातक होगा। यह एक ऐसा मूर्खतापूर्ण कदम होगा जो आगामी समय में पशु कल्याण के सभी रास्ते बंद कर देगा।

– डॉ० डी० सी० जैन
एन १५, ग्रीनपार्क एक्सटेंशन
नई दिल्ली–११००१

जनगणना जब भी हो
"धर्म" के कालम में
केवल "जैन" ही
लिखवाईए।

—:o:—

Ac. Gunratnasuri MS
Jin Gun Aradhak Trust

नाग-जाति और नाग-भाषा

—श्री गणेश प्रसाद जैन
ठठेरी बाजार, वाराणसी।

सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ उग्र-वंशीय हैं। उग्रवंश (उरग) का ही दूसरा नाम नागवंश है। उरग या उग्र का पर्यायवाची नाग, सर्प, पर्वत, पहाड़, आदि भी होता है। पहाड़ी लोगों को ही पर्वतीय भी कहा जाता है। सम्भावना होती है पर्वतीय-जन ही 'नाग' नाम से सम्बोधित हुये हैं। नागजाति अति प्राचीन काल की अर्थात् राम और कृष्ण से-अत्याधिक पूर्वीय है। मोहन जोदडो की खुदाई में प्राप्त मूर्ति अवशेषों में कई-मूर्तियों के मस्तकों पर नाग फण (सर्प-फण) का छत्र उन्हें नाग जाति के होने का सिद्ध करते हैं। नाग जाति के जन नाग–आकृतियों को जाती-चिन्ह के रूप में अपने मुकुटों आभूषणों, भवनों के कंगूरों, शस्त्रों (नागबाण, नागपाश) व्यवहृरित करते थे। मथुरा के कंकाली टीले से भी नागछत्र की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।

नागजाति की सुन्दरता विश्वविख्यात थी, विशेष कर नारियों की। रामचन्द्र की पुत्रवधु (कुश की पत्नी) नाग कन्या थी, पाण्डव-पुत्र अर्जुन की दो पत्नियां चित्राङ्गदा और उलुपी नाग–कन्याऐं थी। शूरसेन देश के राजा अग्रसेन अपरनाम उग्रसेन (अग्रवाल-जाति के पूर्व पुरुष) की भार्या माधवी नाग कन्या थी। इसी

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

लिये अग्रवाल-जाति सर्पों को 'मामा' कहती है। किम्वदन्ती है कि अग्रवाल जाति को सर्प नहीं डसता। इस प्रकार नाग-जाति का अस्तित्व रामायण काल से पूर्व का स्वयं सिद्ध होता है।

प्राचीन भारतीय-साहित्य से भी यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में नाग पूजा प्रचलित थी। 'नाग नामकी एक मनुष्य वंश की जाति थी। उनके कई नाम नाग (सर्प,) के नामों से मिलते--जुलते हैं। मनुष्य-नाग जाति के विशिष्ट कई नाग राजाओं के नाम सर्प के नामों वाले ही नाम हैं। जिससे वैदिकों ने उनकी गणना सर्प जाति में की है। हिन्दू पुराणों में नाग जाति के प्रधान पुरुषों को नाग जाति (सर्प जाति) में नाम की समानता होने से अपने मन की द्वेषभावना की सन्तुष्टि के लिये उन्हें सर्प कहा है।

शेष, वासुकि, तक्षक, शंख, श्वेत, महापद्म, कम्बल अश्वरतर एलापत्र, नाग-कर्कोटक, धनंजय आदि ये सभी नाग जाति के प्रमुख राजा थे। प्राचीन भारत की यह सभ्य, वीर, साहसी, शासन करने वाली जाति थी। प्रसिद्ध इतिहासकार, डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने बौद्ध-ग्रन्थ 'मंजुश्री मूल-कल्प' (श्लोक ७४/५२) के आधार पर नागों को वैश्य कहा है। अग्रवाल जाति के लोग वैश्य गिने जाते हैं। ऊपर कह आये हैं कि नाग-जाति वाले अग्रवाल जाति के मामा कहे जाते हैं। इस दृष्टि से भी नाग जाति वैश्य और वणिक मान्य की जा सकती है।

'नाग-जाति' का आदि उद्‌गम अथवा इतिहास क्या है, यह तो आज भी अन्धकार में है परन्तु-नाग जाति का एक विशिष्ट वर्ग भारतीय इतिहास में 'भारशिव' के नाम से प्रसिद्ध है। इतिहास सें यह भी सिद्ध होता है कि नागों का एक प्राचीन केन्द्र विदिशा था। महाभारत-काल के बाद से ही नाग-जाति की सत्ता उत्तरोत्तर वृद्धिपाती जा रही थी कि द्वितीय शताब्दी में नागों की एक शाखा ने पद्मावती' (वर्तमान पदम पवाया, मध्यदेश) में अपना राज्य जमा लिया था। दूसरी शाखा ने 'कान्तिपुर (वर्तमान कान्तित, जिला मिर्जापुर उत्तर-प्रदेश) को अपनी राजधानी बनाया था। यह स्थान वाराणसी से अति निकट है। यह तो पता नहीं चलता कि-नाग राजा 'भवनाग' का शासन वाराणसी पर भी था या-नहीं किन्तु Glirmpses of Political history (P. 65) में लिखा है कि-जब नाग जाति गंगा के घाटों में बसती थी, तब एक नाग राजा के साथ वाराणसी की राजकुमारी का विवाह हुआ था। अतः वाराणसी के साथ नाग-राजाओं व नाग जाति का घनिष्ठ सम्बन्ध था। नागों की तीसरी शाखा ने मथुरा पर अधिकार कर लिया था।

आज के विज्ञान-युग के पुरातत्वज्ञ और इतिहासकार राजकुमार पार्श्व के जीवन में घटी उस-घटना को जिसे पुराणकारों ने लिखा है कि -पार्श्व कुमार ने

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

महीपाल (पूर्व भवका कमठ) नामक वैदिक तपस्वी के पंच अग्नि–तपस्या के अलाव के एक लक्कड़ को चिरवाकर दग्ध हुये साँप–और साँपिन के जोड़े को अन्तिम श्वाँस लेते हुए णमोकारमंत्र सुनाया था जिसके प्रभाव से उनका आर्तध्यान समाप्त हो कर उनकी सद्गति हुई और वे पाताल–लोक में नाग लोक के राजा धरणेन्द्र और रानी पद्मावती हुए। वे इसे एक पौराणिक–कथा मानते हैं। (हिन्दू धर्म–समीक्षा पृ० १३५) इस घटना से वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि–"पार्श्वनाथ का वंश नाग जाति का था। नाग जाति से उनका पूर्ण रूपेण सौहार्द्र होना ही चाहिये। नाग–नागिन काष्ठ–कन्दे में नहीं जल रहे थे, अपितु वे नाग जाति के मनुष्य थे, उन्हें–तपस्वी महिपाल ने यूथ (वलि देने के खम्बे) से वलि देने के लिये बांध रखा था। युवराज पार्श्व ने उन्हें बलि के खम्बों और महिपाल की अधीनता से मुक्त कराया था। रांगे–यराघव ने अपनी रचना 'रैन और चन्दा' में भी ऐसा ही विचार व्यक्त किया है। गंगाघाटी का भीमावाटी का गहन वन (बरेली के निकट उत्तर प्रदेश अहिच्छत्रा वर्तमान नाम) में तपस्या में लीन मुनि पार्श्व की रक्षा नाग जाति के मनुष्यों ने ही की थी। अहिच्छत्रा क्षेत्र उसी घटना की स्मारक–भूमि है।

ऊपर लिख आये हैं कि भारतवर्ष में प्राचीन काल से नाग पूजा प्रचलित थी, किन्तु–कब से और कैसे यह प्रचलित हुई, इसका स्पष्ट इतिहास अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है। कुछ विद्वानों का तर्क है कि–नाग जाति के वीरों के शौर्य की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिये नाग पूजा का प्रचलन प्रारम्भ किया गया है। पद्मपुराण के सृष्टि खण्ड (वैदिक) में नागों की–उत्पत्ति कश्यप ऋषि की पत्नी कद्रू से बतलायी गई है।

७ वें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ की प्राचीन प्रतिमाओं पर तीन, पाँच और सात नाग (सर्प) फणों का छत्र प्राप्त होता है यह लांछन उनके नाग जाति के होने का प्रमाण है। २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के मस्तक के ऊपर पांच, सात नव, और ग्यारह नाग फणों का छत्र लांछन स्वरूप अथवा अहिच्छत्रा (भीमावाटी) में जब उन पर असुरेन्द्र मेघमाली ने भयानक उपसर्ग किया था और वह ध्यान से च्युत नहीं हुये थे और पाताल लोक के नाग लोक के राजा धरणेन्द्र ने सहस्र नाग फण का छत्र बना कर असुरेन्द्र के उपसर्गों से उनकी रक्षा की उस घटना के स्मृति स्वरूप लांछन रूप में उसका प्रयोग किया गया है।

दोनों तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर सर्प लांछन के फण की गणना कर उन्हें पहिचाना जाता, जिसमें यात्री भक्त अक्सर पहिचान में भूल करते थे, अतएव आचार्यों ने प्रागैतिहासिक काल के तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के मस्तक पर से नाग छत्र को हटाकर चरण पीठ पर स्वस्तिक (सथिया) लांछन का प्रयोग प्रचरित किया।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पार्श्वनाथ पर नागछत्र का लांछन हटना कठिन था। उनके जीवन में नाग सम्बन्धी दो प्रमुख घटनायें घटी थीं एक तापस महिपाल के पंचाग्नि तप को अग्नि के चक्कण से सर्प—सर्पिणी का त्राण और भीमाबाटी के वन में असुरेन्द्र के भयानक उपसर्गों से नागराजा धरणेन्द्र और नागरानी पद्मावती द्वारा मुनि पार्श्व की रक्षा।

वैदिक—साहित्य में नाग जाति को (सर्पको) देवयोनि बतलाया है। श्रावण शुक्ला पंचमी को नाग (सर्प) का दर्शन कर उन्हें दूध पिलाया व धान का लावा खिलाया जाता है उनकी पूजा की जाती है। सम्भवत: यह नाग (सर्प) पूजा मनुष्य नागजाति के वीर पुरुषों की स्मृति में जो प्रचलित हुई थी, उसी की प्रतीक है। यह वीरों की पूजा का विकृत रूप है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीन-काल में नाग-जाति का समाज पर गहरा प्रभाव था।

वैदिक—काल से पूर्ववर्ती नागजाति भारतीय प्रजा है। यक्ष: किन्नर द्रविड़ आदि जातियाँ मूलत: भारतीय और श्रमण (जैन, अर्हत्) धर्म की उपासक थी। नागजाति की सभ्यता और संस्कृति ऋग्वैदिक-सभ्यता और संस्कृति से उच्चकोटिकी थी। वैदिकों और नागजाति का संघर्ष महाभारत-काल से ही प्रारम्भ हुआ। महाभारत के आदि पर्व में-जनमेजय के नाग-यज्ञ की कथा है। इसमें मंत्र-बल से नागों (सर्पों) को खींचखींचकर अग्नि में आहुति देने का वर्णन है। इस प्रकार सम्पूर्ण नागजाति (सर्प जाति) को समाप्त कर देने का कथन हैं।

अर्जुन (पाण्डु पुत्र) ने अपने सखा कृष्ण की सम्मति से खाण्डव-वन को बस्ती बसाने के लिये वहाँ के वृक्षों आदि को अग्नि लगाकर भस्मीभूत कर दिया। उस समय खाण्डव-वन में नाग-जाति के मनुष्यों की विपुल वस्ती थी। नाग-यज्ञ और खाण्डव-वन का जलाया-जाना केवल मात्र नाग जाति से प्रतिशोध चुकाना था। नागजाति जो मनुष्य जाति ही थी उसे-पौराणिक कथन में सर्पकरार देकर सर्प-यज्ञ में उनकी समाप्ति करना ही उद्देश्य था। इसका प्रमुखकारण वैदिक और श्रमण-संस्कृति का विरोध था। नागज. ा श्रमण-संस्कृति की उपासक से उसी विरोध के परिणाम स्वरूप यह तुच्छ कृत्य कि. । गया था।

जिस समय खाण्डव वन जलाया जा रहा था उस समय नागजाति का मुखिया (राजा) तक्षक अन्य ग्राम गया था। लौटने पर उसे सारी स्थिति की जानकारी हुई। वह पलायित हो गया, उसने अर्जुन के परिवार से प्रतिशोध चुकाने की प्रतिज्ञाली और अवसर पाकर उसने अर्जुन पौत्र परीक्षित का वध कर दिया। इस घटना को वैदिक पुराणों में तक्षक नाग द्वारा परीक्षित की डसने से मृत्यु का कथन किया गया है। जो यथार्थता से परे है। ईसा पूर्व १००० एक हजार से ५०००

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

पाँच हजार वर्ष तक भारतीय इतिहास में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में नाग-राजाओं और नाग-वंश का प्रभाव बराबर बना दीखता है। उत्तर भारत में तक्षशिला से लेकर दक्षिण में लंका पर्यन्त, तथा पश्चिम में सिन्धु से लेकर बंगाल तक नागों की सत्ता के चिन्ह प्रभावकारी रूप में आज भी उपलब्ध होते रहते हैं।

स्व० बाबू हरिश्चन्द्र जिन्हें हिन्दी-भाषा का प्रवर्तक माना जाता है, उन्होंने 'हिन्दी वर्धिनी सभा' प्रयाग के अधिवेशन में कहा था कि-"इसमें कोई सन्देह नहीं है कि खड़ी-बोली पश्चिमी भाषा और व्रजभाषा, तथा पंजाबी आदि से बिगड़ कर बनी है। परन्तु इस भाषा के मूल में नाग-भाषा ही रही होगी।"

भिखारी दास जी ने व्रज, मागधी, संस्कृत और यावनी भाषा के साथ-साथ, नाग-भाषा की गणना की है। वैयाकरण-मार्कण्डेय ने 'प्राकृत-सर्वस्व' ग्रन्थ में प्राकृत भाषा के अतिरिक्त अपभ्रंश-भाषा के लिये 'नाग-भाषा' सम्बोधन (शब्द) प्रयुक्त होता रहा लिखा है।

फार्वेस आदि पुराने यूरोपियन-कोषकारों ने भी 'नाग-भाषा' का अर्थ प्राकृत भाषा किया है। स्व० बैरिस्टर जायसवाल का मत है कि -"ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी में उत्पन्न माथे बन्द-लिपि, जिसने शीघ्र ही प्राचीन ब्राह्मी लिपि का स्थान ले लिया और नागरी-लिपि के नाम से प्रसिद्ध हुई, यह इन्हीं नाग लोगों की देन थी।

यह निर्विवाद तथ्य है कि प्राकृत और बाद की अपभ्रंश भी दोनों नाग और नगर (नागर) के नाम से प्रसिद्ध रहीं, और लगभग ३००० तीन हजार वर्षों से लगातार-पिछली शताब्दी तक अपने भिन्न-भिन्न रूपों में समस्त भारत वर्ष के जन-साधारण की भाषा बनी रही।

—*—

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

साहित्य-समीक्षा

कुन्दकुन्द का कुन्दन, पद्यानुवाद-आचार्य श्री विद्यासागर, मुद्रक-आनन्द सिंघई अजीत वैसिंग वर्क्स-६६६-सराफा, जबलपुर।

पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने अपनी हिन्दी कविताओं के द्वारा जैनागम को समृद्ध किया है। इनके पूर्व भी आचार्य श्री द्वारा लिखित कुछ और भी कविता संग्रह प्रकाश में आए हैं और उनके पठन-पाठन से जैनधर्म के तत्वों की जानकारी बहुत गहराई तक प्राप्त होती है। सभी कविताएँ सरस और सुन्दर हैं। प्रस्तुत पुस्तक भगवान कुन्दकुन्द द्वारा रचित ग्रन्थों (सिद्ध भक्ति, नियमसार समयसार, प्रवचनसार, आदि) अनेक ग्रन्थों के आधार पर प्राकृत से हिन्दी में पद्यानुवाद किए हुए हैं। जिस समय मूल रचना प्राकृत में लिखी गई थी उस समय प्राकृत भारत की जन भाषा थी परन्तु आज प्राकृत भी हमारे लिए उतनी ही कठिन हो गई है, जितनी कि संस्कृत। इसलिए प्राकृत भाषा में लिखी प्राचीनकृतियों का जितना भी हिन्दी अनुवाद किया जा सके, उतना ही भारतीय जनमानस के लिए उपयोगी रहेगा।

हम जबलपुर के सभी उत्साही व्यक्तियों को साधुवाद देते हैं जिन्होंने आचार्य श्री के जबलपुर चातुर्मास के समय लिखी हुयी इन कविताओं को सुन्दरढग से प्रकाशित किया है।

तनावों से मुक्ति-सज्जन सिंह मेहता साथी, प्रकाशक—श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद् जयपुर, सम्पादक—डा० नरेन्द्र भानावत, मूल्य—२/—

२४ पृष्ठों की यह छोटी परन्तु सुन्दर रूप से प्रकाशित और मुद्रित तथा बहुत अच्छे ढंग से लिखी हुयी पुस्तिका आज के तनावपूर्ण युग में सभी व्यक्तियों के लिए अत्यंत उपयोगी है। इस पुस्तिका में तनाव के कारण, तनाव के प्रकार, तथा तनावों से मुक्ति के तरीकों पर कुल २२ पृष्ठों में इतनी उपयोगी सामग्री दी हुयी है जो कि सचमुच गागर में सागर है। तनाव से मुक्ति पाने के लिए इस छोटी सी पुस्तिका को निरन्तर साथ रखना चाहिए और समय निकाल कर इससे लाभ लेना चाहिए।

श्री दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र गजपंथ को शताब्दि समारोह पत्रिका-प्रकाशक श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र गजपंथ शताब्दि समारोह एवं उद्घाटन समिति, मु० पो० म्हसरुल, नाशिक—४२२००४।

शताब्दि समारोह पत्रिका का प्रकाशन बहुत सुन्दर हुआ है। पांच रंगीन चित्र मनोहारी हैं जिनसे धर्मशाला स्थित मन्दिर, श्री १००८ भगवान महावीर का मन्दिर और उनमें स्थापित मूर्तियाँ, मानस्तंभ, श्री भगवान महावीर मन्दिर का कलात्मक शिखर एवं श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र गजपंथ का पर्वतराज, ये सभी चित्र

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

वहाँ की स्मृति को ताजा कर देते हैं। मुझे पूज्यनीय सिद्धक्षेत्र पर यात्रा करने का सौभाग्य उस समय प्राप्त हुआ था जबकि वहाँ पर परम पूज्य आचार्य श्री शांति सागरजी महाराज विराज रहे थे और उनका हरिजन मन्दिर प्रवेश को लेकर सत्याग्रह चल रहा था। हमारे साथ उस समय हमारी पूज्या दादीजी स्वर्गीय ब्रह्मचारिणी चन्दाबाई (पूज्या आर्यिका चन्दा माँश्री) एवं पूज्य चाचाजी स्वर्गीय बाबू चक्रेश्वर कुमार जी भी थे और भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद तथा तत्कालीन केन्द्रिय मंत्री एवं भारतवर्षीय हरिजन के नेता बाबू जगजीवन राम जी से वार्तालाप के उपरांत परमपूज्य महाराज जी के इच्छानुसार इस समस्या का समाधान भी निकल आया था उसी समय पर्वतराज की सुखद यात्रा तथा भगवान महावीरजी के दर्शनों के सौभाग्य प्राप्त हुए थे।

इस शताब्दि समारोह पत्रिका में जो भी लेख है, वे सभी सुरुचिपूर्ण एवं ज्ञानवर्द्धक हैं और पाठकों को इस महान सिद्ध क्षेत्र से सुपरिचित करा देते हैं। ऐसी शताब्दि समारोह स्मारिका के प्रकाशन के लिए हम प्रकाशकों को धन्यवाद देते हैं।

जैन सम्पर्क डाइरैक्ट्री संकलन-श्रीमती निर्मला जैन सम्पादन-श्री राज कुमार जैन, सम्पर्क सूत्र-२१६, टाईप द्वितीय क्वाटर-कानपुर-१६ (उत्तर प्रदेश) सहयोग राशि १५/-

यह डाईरेक्ट्री का तृतीय पुष्प है और अब तक इस डाइरेक्ट्री के ५४ पृष्ठ मुद्रित हो चुके हैं जिसमें कि प्रथम दो पुष्पों के भाग भी हैं।

इस डाइरेक्ट्री में जैनधर्म सम्बन्धी पत्रिकाओं के अतिरिक्त जैन संस्थाओं की सूची एव प्रमुख प्रकाशित पुस्तकों एवं उसके प्रकाशकों की सूची भी है। कैसेट विक्रताओं तथा जैन विडियो फिल्मों की सूची और जैन धर्म के विद्वानों आदि की सूची भी विगतदार प्रकाशित हो रही है। इसमें सभी के पूरे नाम व पते दिए हुए हैं जिससे कि ग्राहकों को अपनी आवश्यकतानुसार सामग्रियाँ मंगाने में सहायता मिल सकती है। इस प्रकार की डाइरेक्ट्री का प्रकाशन उपयोगी है और हर घर में इसे पहुंचाना चाहिए।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

प्राच्य भारतीय ज्ञान-विज्ञान के महामेरु आचार्य—कुन्दकुन्द
डा० राजाराम डा० विद्यावती जैन. प्राच्य भारती प्रकाशन, महाजन टोली न० २, आरा (बिहार) ८०२३०१

डा० राजाराम जैन और उनकी धर्मपत्नी डा० विद्यावती जैन 'दोनों' ही के द्वारा जैनगम के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण सेवायें दी जा रही हैं। आरा के जन-जीवन में इन दोनों ही का योगदान अब स्मरणीय रहेगा। रईधू-साहित्य के सम्पादक और टीकाकार के रूप में डा० राजाराम जैन ने जिस लगन और श्रमपूर्वक कार्य किया है वह उन्हें अमर बनाने के लिए पर्याप्त है।

आलोच्य पुस्तक आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में उनके जीवन वृत्त और वाङ्मय पर प्रामाणिक जानकारी प्रदान करती है। आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्राद्वि समारोह वर्ष में इस पुस्तक की उपयोगिता अत्यधिक है। इस पुस्तक का प्रचार और प्रसार भली-भाँति किया जाना चाहिए। पुस्तक की छपाई टाइटील पेज और कागज आदि सभी सुन्दर हैं।

—सु० कु०

पण्डितप्रवर आशाधर, लेखक पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक, मंत्री, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट बीं० ३२/१३ बी० नरिया. वाराणसी-. प्रथम संस्करण ५००. सन् १९८८. मूल्य--दस रुपये- पृष्ठ संख्या—९३।

प्रस्तुत कृति के लेखक पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री ने धवला टीका के साथ षट्खण्डागम का सम्पादन—अनुवाद, जम्बूद्वीपपण्णत्ती. तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थों का सम्पादन एवं अनुवाद किया है। कुछ ही समय पूर्व उनकी अनुपम एवं मौलिक रचना षट्खण्डागम परिशीलन' विद्वत्समुदाय द्वारा समादृत हुई है। उनकी यह लघुकाय रचना पं० आशाधर के विषय में अनुसन्धानपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करने में पूर्णतः सफल हुई है।

पण्डितप्रवर आशाधर स्वयं सदाचारी गृहस्थ थे, किन्तु उन्होंने श्रमणाचार के विषय में पूरी तत्परता के साथ अनगार धर्मामृत की रचना की। उनकी मौलिक और टीकात्मक कुल उन्नीस रचनाओं की सूचना प्रकृत पुस्तक में दी गई है। इसके साथ ही उन्होंने अपनी कृतियों में प्राकृत-संस्कृत के तैतालीस ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं। लेखक ने पुस्तक में उन सबका सप्रमाण संकलन किया है। अन्त में दो परिशिष्टों के अन्तर्गत क्रमशः अनगारधर्मामृत टीका की प्रशस्ति तथा विद्यावारिधि पं० खूबचन्द्र जी द्वारा सम्पादित अनगारधर्मामृत की प्रस्तावना का महत्वपूर्ण अंश दिया गया है। पुस्तक अनुसन्धान पूर्ण, उपयोगी एवं संग्रहणीय है। छपाई सुन्दर है।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

दुधारस कथा को हस्तलिखित १ प्रति

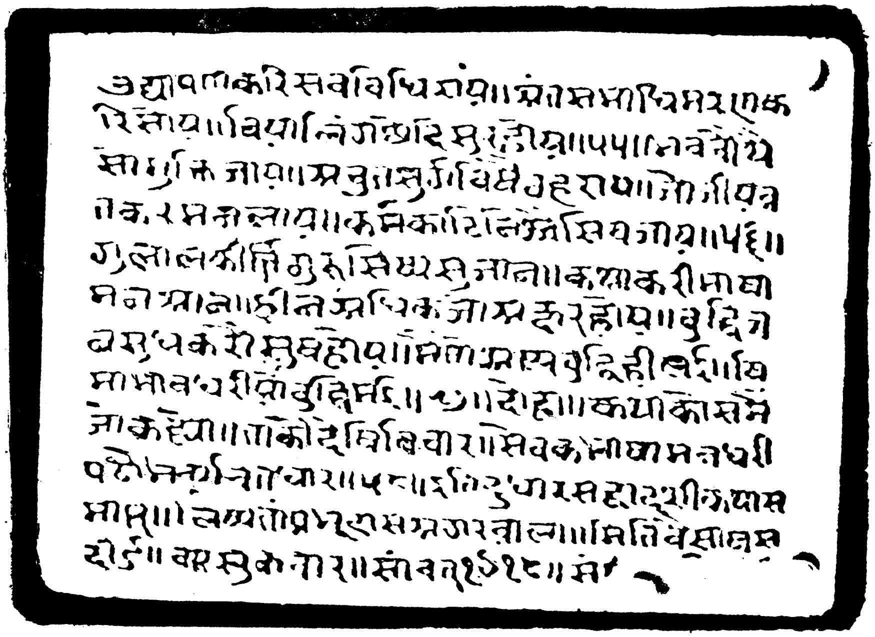

(द्वादश बरस करयौ मन लाय ।)
उधापन करि सब विधि राय ।।
अत समाधि मरण करि सोय ।
त्रिया लिंग छेदि सुर होय ।।५५।।

भव चौथे जो मुक्ति जाय ।
च्युत स्वर्ग विषै ठहराय ।।
जो जीव व्रत करै मन लाय ।
कर्म काटि निश्चै सिव जाय ।।५६।।

गुलाल कीर्ति गुरु शिष्य सुजान ।
कथा करी भाषा मन आन ।।
हीन अधिक जो अक्षर होय ।
बुधजन शुद्ध करौ सुख होय ।।५७।।

मैं तो अल्प बुद्धि ही लई । क्षिमा भाव धरियो बुद्धि मई ।।

दोहा—कथा कोस में जो कहयो ताको देखि विचार ।
सेवक भाषा मन धरी पढ़ो भव्य चितधार ।।

इति दुधारस द्वादशी कथा समाप्त ।

लिख्यितं प्रभुदास अग्रवाला । मिति वैशाख सुदी ९ वार शुक्रवार संवत् १९१८ ।।

(पं० प्रवर बाबू प्रभुदास जी द्वारा हस्तलिखित ग्रन्थ दुधारस कथा काव्य के अंतिम पृष्ठ के मूल चित्र के नीचे उसका आधुनिक हिन्दी टाईप में प्रस्तुतिकरण किया गया है। यह ८ इंच × ६ इंच का ग्रन्थ कुल १३ पृष्ठों में है और श्री जैन सिद्धान्त भास्कर में यह सम्पूर्ण काव्य कृति माह दिसम्बर ई० १९८८ भाग–४१ अँक–२ में प्रकाशित की जा चुकी है।—सु० कु०)

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन संस्कृति के संरक्षण में जैन सिद्धान्त भवन की भूमिका

—डॉ॰ ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार'

जैन सिद्धान्त भवन आरा 'सेन्ट्रल जैन आरियन्टल लायब्रेरी' के नाम से भी देश–विदेश में जाना जाता है। यह ग्रन्थागार आरा नगर के प्रमुख भगवान महावीर मार्ग (जेल रोड) पर स्थित है। इसके मुख्यद्वार के ऊपर सरस्वती जी की भव्य एवं विशाल मूर्ति है। अन्दर बहुत बड़ा संगमरमर का हॉल है, जिसमें सोलह हजार छपे हुए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के साथ छह हजार हस्तलिखित कर्गलीय तथा ताड़पत्रीय ग्रन्थों का संग्रह है। इनमें वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण आदि वैदिक साहित्य एवं पालि त्रिपिटक आदि बौद्धागम साहित्य के साथ–साथ अन्य प्राचीन, मध्यकालीन एवं अर्वाचीन संस्कृत, पालि प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला, तामिल, तेलगू कन्नड़, उर्दू आदि भारतीय एवं अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेन्च, इटालियन आदि विदेशी भाषाओं में लिखित, मुद्रित साहित्य, आलोचना, इतिहास, संस्कृति, व्याकरण छन्द, अलङ्कार, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विषयक विविध उच्चकोटि के ग्रन्थों का सकलन है। जैनविद्या की तो प्रत्येक विधा के ग्रन्थों का अद्भुत संग्रह है। इसकी सामग्री का उपयोग कर अभी तक लगभग शतार्ध व्यक्ति पी॰ एच॰ डी॰ एवं डी॰ लिट् जैसी महत्त्वपूर्ण उपाधियां प्राप्त कर चुके हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

सन् १६०३ में भट्टारक हर्षकीर्ति जी महाराज सम्मेद शिखर की यात्रा से लौटते समय आरा पधारे। आते ही उन्होंने राजर्षि बाबू देवकुमार जी द्वारा संगृहीत उनके पितामह पं० प्रभुदास जी के ग्रन्थ संग्रह के दर्शन किये तथा उन्हें स्वतन्त्र ग्रन्थागार स्थापित करने की प्रेरणा दी। राजर्षि देवकुमार जी धर्म एवं संस्कृति के अनन्य प्रेमी थे, उन्होंने तत्काल स्थानीय जैन पंचायत की एक सभा आहूत कर जैन सिद्धान्त भवन की स्थापना कर दी। भट्टारक जी ने भी अपना ग्रन्थसंग्रह जैन सिद्धान्त भवन को भेंट कर दिया। इस प्रकार ज्ञान के इस अपूर्व भंडार का सूत्रपात हुआ।

जैन सिद्धान्त भवन के सम्बर्द्धन के निमित्त बाबू देवकुमार जी ने श्रवणबेलगोला के यशस्वी भट्टारक नेमिसागर जी के साथ सन् १६०६ में दक्षिण भारत की यात्रा प्रारम्भ की। अपनी यात्रा के दौरान उन्होंने विभिन्न नगरों और गाँवों में सभाओं का आयोजन करके जैन संस्कृति की सुरक्षा एवं समृद्धि करने हेतु लोगों को प्रेरित किया। इससे प्रभावित होकर लोगों ने जैन सिद्धान्त भवन आरा के लिए अनेक ग्रन्थ भेंट किये। दक्षिण में भी कई स्थानों पर नये शास्त्र भंडार स्थापित किये गये। अनन्तर देवकुमार जी ने दूसरे लोगों को यात्रा पर भेजकर अपने द्रव्य से क्रम करके ग्रन्थों का संकलन कराया। इस प्रकार उनके सत्प्रयास से जैन सिद्धान्त भवन का ग्रन्थ कोश समुन्नत हुआ।

३१ वर्ष की अल्पायु में बाबू देवकुमार जी का देहावसान हो गया। पश्चात् बाबू करोडीचन्द्र जी ने भवन के कार्य–कलापों को आगे बढ़ाया। अनन्तर आरा के ही एक और यशस्वी धर्मप्रेमी कुमार देवेन्द्र ने इसका कार्यभार लिया तथा कलकत्ता और बनारस में विशाल प्रदर्शिनियों एवं सभाओं का आयोजन किया। इस संग्रह को देखकर विभिन्न देशी–विदेशी विद्वानों ने प्रशस्तियाँ लिखीं और इसके संरक्षण–संवर्द्धन हेतु प्रेरणाएँ दीं।

सन् १९१६ में बाबू निर्मलकुमार जी भवन के मंत्री निर्वाचित हुए। उन्होंने ग्रन्थागार के लिए विशाल एवं भव्य भवन का निर्माण कराया तथा १६२७ ई० में श्रुतपञ्चमी के दिन धूम–धाम पूर्वक धार्मिक अनुष्ठान के साथ ग्रन्थागार नवनिर्मित भवन में स्थापित किया। आपके कार्यकाल में हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थों का प्रचुर परिमाण में संकलन हुआ। आपके कार्यकाल में ग्रन्थों की प्रतिलिपि करने हेतु एक लेखक भवन में नियमित रूपसे रहते थे, जो नये ग्रन्थों की प्रतिलिपियों के अतिरिक्त भवन के जीर्णग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी करते थे। यहाँ से विभिन्न ग्रन्थ प्रतिलिपि कराकर सरस्वती भवन, बम्बई एवं सरस्वती भवन, इन्दौर भी भेजे गये। निःसन्देह बाबू निर्मलकुमार का समय इस ग्रन्थागार का स्वर्ण–काल था, इसकी सर्वाङ्गीण

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

उन्नति उन्हीं के समय में हुई। संग्रह में वृद्धि के साथ इसका यश भी सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हुआ।

सन् १९४६ से १९५७ तक बाबू चक्रेश्वर कुमार जी ने इस ग्रन्थागार का संचालन किया। १९५७ से बाबू निर्मलकुमार जी के कर्मठ पुत्र बाबू सुबोधकुमार जैन इसका कार्यभार सम्भाले हुए हैं। इनके कार्यकाल में भवन के कार्यकलापों में कई नये आयाम जुड़े। बाबू सुबोधकुमार जी ने सन् १९६३ में 'श्री देवकुमार जैन प्राच्य शोध संस्थान' की विधिवत् स्थापना की. जिसे १९७२ में मगध विश्व विद्यालय से मान्यता भी प्राप्त हो गई। भवन के शोध विभाग में प्राकृत एवं जैनविद्या की विभिन्न विधाओं पर शोधकार्य होता है। संस्थान से अभी तक लगभग ४० विद्वान् पी० एच० डी० एवं डी० लिट्. जैसी उच्च उपाधियाँ प्राप्त कर चुके हैं तथा १५ (पन्द्रह) अनुसन्धाता अनुसन्धान कार्य कर रहे हैं। वर्तमान में इसके मानद् निदेशक डॉ० राजाराम जैन. हरप्रसाद दास जैन कालेज. आरा हैं तथा संस्थान के इस विभाग को डॉ० गोकुलचन्द्र जैन बाराणसी, डॉ० (श्रीमती) सुनीता जैन, डॉ० (श्रीमती) विद्यावती जैन आदि ख्याति लब्ध बिद्वानों का सहयोग प्राप्त है।

जैन सिद्धान्त भवन का एक विभाग 'श्री निर्मल कुमार चक्रेश्वर कुमार जैन कला दीर्घा' है, जिसकी स्थापना सन् १९७७ में की गई थी। इस कलादीर्घा में शताधिक ऐतिहासिक, पौराणिक एवं आधुनिक महत्त्वपूर्ण चित्र, प्राचीन ऐतिहासिक सिक्के, विभिन्न लिपियों के ताड़पत्र तथा हस्तलिखित ग्रन्थ एवं कतिपय ऐतिहासिक व्यक्तियों के पत्रादि संगृहीत कर प्रदर्शित किये गये हैं। जैन सिद्धान्त भवन आरा के ही तत्वावधान में चित्र संग्रह सरस्वती भवन. राजगिर में भी प्रदर्शित है।

जैन सिद्धान्त भवन आरा सन १९१३ से ही 'जैन सिद्धान्त भास्कर एवं जैना एण्टीक्वैरी' नामक शोधपत्रिका का प्रकाशन कर रहा है। पत्रिका हिन्दी एवं अंग्रेजी में षाण्मासिक है। भवन ने शोधपत्रिका के माध्यम से जैन संस्कृति एवं साहित्य की पर्याप्त श्री वृद्धि की है। पत्रिका में जैनविद्या की विभिन्न विधाओं के महत्वपूर्ण लेखों के साथ-साथ ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक सामग्री भी प्रकाशित की जाती है। पत्रिका में अप्रकाशित लघु पाण्डुलिपियों का प्रकाशन भी होता है। पत्रिका देश-देशान्तर में ख्याति प्राप्त है।

जैन सिद्धान्त भवन आरा के प्रकाशन विभाग द्वारा कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हैं। जिसमें 'जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थावली' एवं 'सचित्र जैन रामायण' (रामयशोरसायन रास) विशेष महत्व के हैं।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

'जैन सिद्धान्त भवन ग्रन्थावली' नाम के अनुरूप भवन में संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी भाषाओं के हस्तलिखित ग्रन्थों की विस्तृत सूची है, जिसे वैज्ञानिक एवं आधुनिक ढंग से तैयार करके प्रकाशित किया गया है। ग्रन्थावली के छह भाग प्रकाशित करने की योजना है, जिनमें से दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं, तीसरे का प्रकाशन कार्य चल रहा है। सभी भागों का सम्पादन डा० ऋषभचन्द्र जैन फौजदार कर रहे हैं। ग्रन्थावली के माध्यम से जैन सिद्धान्त भवन आरा के सभी ग्रन्थ प्रकाश में आ जावेंगे और अनुसन्धाताओं के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे। प्रत्येक भाग प्राय: ६०० पृष्ठों के हैं और अगले भी इसी परिमाण के होंगे। ये विश्वविद्यालयीय पुस्तकालयों एवं शोधसंस्थानों के लिए विशेष उपयोगी तथा संग्रहणीय हैं।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रकाशन 'सचित्र जैन रामायण' (राम-यशोरसायन रास) है, यह रचना श्वेताम्बर मुनि केशराज द्वारा रचित है। २१३ आकर्षक रंगीन चित्रों के साथ प्रकाशित हो रही है। इसके सभी चित्र राजपूत शैली के हैं। सचित्र जैन रामकथा का प्रकाशन पहली बार हो रहा है। इसकी दूसरी प्रति किसी भी अन्य संग्रह में उपलब्ध नहीं है। इससे इसका महत्व स्वत:, स्पष्ट है। ग्रन्थ छपकर तैयार हो रहा है। ग्रन्थ संग्रहणीय है।

इनके अतिरिक्त मुनिसुव्रतकाव्य, ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक शास्त्र, प्रतिमा लेखसंग्रह, प्रशस्तिसंग्रह, वैद्यसार, तिलोयपण्णत्ती, जैन लिटरेचर इन तमिल आदि ३५ अन्य प्रकाशन हैं। उक्त विवेचन से जैन सिद्धान्त भवन आरा का जैन साहित्य और सस्कृति के संरक्षण एवं संवर्द्धन में योगदान स्वत. सिद्ध है।

—०—

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम का ऐतिहासिक शुभारम्भ

उज्जैन । १६ दिसम्बर को 'हीरा भैया प्रकाशन' इन्दौर द्वारा प्रवर्तित जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम की पहली इकाई हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं विक्रम विश्व-विद्यालय के पूर्व उपकुलपति डॉ० शिवमंगलसिंह सुमन ने लोकार्पित की। लोकार्पण के क्षणों में उन्होंने कहा कि मुझे विश्वास है कि ऐसी शुरुआतें साम्प्रदायिक तनावों और टकराहटों को कम करेंगी और हम सबको एक-दूसरे के अधिक नजदीक लायेंगी।

संस्थान के निदेशक, "तीर्थंकर" मासिक के संपादक डॉ० नेमीचन्द जैन ने डाक-द्वारा एक वर्ष में जैन धर्म और दर्शन की तुलनात्मक जानकारी देनेवाले इस पाठ्यक्रम पर विस्तार से प्रकाश डाला। समारोह के संयोजक शिशुरोग-विशेषज्ञ डॉ० एस० के० जैन ने हीरा भैया प्रकाशन की इस रचनात्मक प्रवृत्ति को ऐतिहासिक महत्त्व का बताते हुए इसे नगर की जनता को सौंपा।

जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम संस्थान के कुलसचिव श्री प्रेमचन्द जैन ने प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए कहा कि यदि हम भारतीय धर्मों के बारे में सही और संतुलित जानकारी उसके अनुयायियों को देते हैं तो उससे साम्प्रदायिक जहर कम होगा और भारतीय संस्कृति गौरवान्वित होगी। उन्होंने कहा कि दुःख तो यह है कि स्वयं जैनधर्म के मानने वाले जैनधर्म के बारे में आधी-अधूरी जानकारी रखते हैं और आपस में जूझते हैं। प्रस्तुत पाठ्यक्रम, जो ६ इकाइयों और ५६ पाठों में वर्गीकृत है, धार्मिक निरक्षरता को दूर करने की दिशा में एक सुदृढ़ कदम है। इससे पूर्व श्रीमती रत्नप्रभा देवी तथा श्रीमती विजया जैन ने मंगलाचरण किया।

डॉ० नेमीचन्द जैन की लोकप्रिय पुस्तक 'जैनधर्म इक्कीसवीं शताब्दी" के द्वितीय संस्करण को लोकार्पित करते हुए डॉ० सुमन ने कहा कि हमें धर्म को ले कर एक स्वच्छ, रचनात्मक, और आचरणमूलक दृष्टिकोण अपनाना चाहिये और प्रयास करना चाहिये कि हमारा यह देश विषमताओं के बीच भी निर्मलताओं का खजाना बने। उन्होंने संत-परम्परा से उदाहरण देते हुए एक धर्म को दूसरे धर्म से बढ़ा-चढ़ा कर बताने की वृत्ति को घटाने पर जोर दिया।

उल्लेखनीय है कि 'हीरा भैया जैन विद्या पत्राचार पाठ्यक्रम' की प्रवर्तिका संस्था' हीरा भैया प्रकाशन' ने यह पाठ्यक्रम प्रकाशन की संस्थापिका स्व० हीरा बाई की १३ वीं पुण्यतिथि के अवसर पर जारी किया है। हीरा भैया प्रकाशन सन् १९६२ से सतत् सत्साहित्य के प्रकाशन में लगा हुआ है। वर्तमान में उसके अन्तर्गत "तीर्थंकर और "शाकाहार क्रान्ति" जैसी ख्यातिलब्ध पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। पाठ्यक्रम तथा समाचार-सेवा के बारे में अधिक जानकारी के लिए संपर्क-सूत्र है- "कुलसचिव", हीरा भैया पत्राचार पाठ्यक्रम, ६५ पत्रकार कालोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२००१, मध्यप्रदेश"।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

अहिच्छत्रा की खोज व खुदाई

इस स्थल की खोज १९ वीं शती के मध्य में कैप्टेन हाज्सन ने अहिच्छत्रा किले का विवरण लिखा, सन्। १८६२-६३ में कनिंघम ने सर्वेक्षण किया और खुदाई कराई। इसके बाद वहाँ के जमीदार ने खुदाई कराई। सन् १८८१-८२ डॉ० फयूहरर ने इन टीलों का उत्खनन कराया। सन् १९४०-४४ तक भारतीय सर्वेक्षण ने प० कोट के भीतर खुदाई कराई जिसमें मकान सड़के मन्दिर मिले। यहाँ पकी ईटों की दीवाले मिली।

डॉ० फयूहरर को ऐसा लगता है कटारीखेड़ा के जैन मन्दिर से चार जैन मूर्तियाँ मिली हैं। इनका अति संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

१. प्रथम बैठी धिसी मूर्ति का निचला भाग जिस पर दो पक्तियो में लेख रहा होगा जो इस समय पर्याप्त घिस चुका है किन्तु प्रथम प्रक्ति के अन्त में....धिच्छत्रा....सुस्पष्ट है।

२. द्वितीय संवत् १२ की बैठी तीर्थंकर मूर्ति है। इसकी चरण पीठिका पर चतुर्विधि संघ का अंकन है।

३. अभिलिखित जैन सर्वतोभद्र या चौमुखी की चरण चौकी। इस पर सवत् ७४ पढ़ा गया था किन्तु सुप्रसिद्ध जर्मन विदुषी प्रो० मिटिकपलनर ने संवत् १४ अभी पढ़ा है।

४. अभिलित आयगापट्टम्मसके मध्य में कमल का था अब काफी धिस चुका है।

ले० शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

कथाकार आचार्य संघदासगणी ने मगध-जनपद के "बइडक" ग्राम का उल्लेख किया है। इस गाँव के किसान बड़े परिश्रमी थे। वे रात-रात भर क्यारी बटाने के काम में लगे रहते थे। कभी-कभी एक किसान की क्यारी का पानी दूसरे क्यारीवाले किसान काट ले जाते थे। इसके लिए राजा की ओर से प्राणदण्ड की व्यवस्था थी।[1] मगध-जनपद का अवलग्राम तो वेदपाठी ब्राह्मणों से भरा रहता था। यहाँ उस समय धरपिजड नामक ब्राह्मण ब्राह्मण-पुत्रों को वेद पढ़ाता था।[2] वसुदेव भ्रमण के क्रम में द्वारा मगध-जनपद पहुंचे थे, तब वह वहाँ के एक सन्निवेश (बाह्योद्यान या बाहरी सुलाक्षेत्र) में ठहरे थे। वहाँ से जरासन्ध के दूत डिम्भक शर्मा नामक ज्योतिषी के संकेतानुसार सोलह राजपुरुष उन्हें पकड़कर ले गये थे। उनका अपराध यही था कि उन्होंने जरासन्ध की पुत्री इन्द्रसेनो (बसन्तपुर के राजा जितशत्रु की, एक सन्यासी के प्रति अनुरक्त पत्नी को पिशाचावेश से मुक्त कराया था और ज्योतिषी ने जरासन्ध को बताया था कि ऐसा करनेवाला व्यक्ति तुम्हारे शत्रु कृष्ण का पिता होगा।[3]

आचार्य संघदासगणी ने मगध-जनपद के अन्तर्गत पाटलिपुत्र की चर्चा नहीं की है। इससे संकेत मिलता है कि मगध की राजधानी के रूप में पाटलिपुत्र की मान्यता वाद में स्थापित हुई। अंग और मगध-जनपद की विवाद अन्तरंग चर्चा से यह बात भी स्पष्टया उभर कर सामने आती है कि 'वसुदेव-हिण्डी' के कथाकार आचार्य संघदासगणी बिहार के ही अंग या मगध-जनपद के निवासी रहे होंगे, जो ब्राह्मण और श्रमण-धर्म-दर्शन के पारगामी विद्वान् थे। खेद है कि इस महान कथाकार के जन्मकाल और जन्मभूमि के बारे में कोई भी प्रत्यक्ष साक्ष्य सुलभ नहीं है।

---

१. तत्रैव, अट्ठारहवाँ प्रियंगुसुन्दरीलम्भ, पृ० २६५।

२. तत्रैव, इक्कीसवाँ केतुसतीलम्भ, पृ० ३२०।

३. "वसुदेवहिण्डी" : इक्कीसवाँ केतुमतीलम्भ, पृ० ३४८-३४६, बाईसवाँ प्रभावती-लम्भ, पृ० ३५०।

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. 42 DECEMBER 1989 No. 2

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ।।"
[अकलंकदेव]

Editorial Board

Dr. Kastur Chand Kashliwal; Dr. Raja Ram Jain
Dr. Aditya Prachandiya; Dr Shashikant
Dr. Rishabha Chandra Fouzdar

Published by

Ajay Kumar Jain, *Secretary*

SHRI DEVKUMAR JAIN ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE

SHRI JAIN SIDDHANT BHAWAN

ARRAH BIHAR (INDIA)

ANNUAL SUBSCRIPTION

nland Rs. 50/-] **Single Rs. 25/-**
'oreign Rs. 75/- **Single Rs. 35/-**

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

CONTENTS

Articles		Page No.
1 Selected Abstract of Articles From Digest of Indological Studies	—S.K. Jain	I
2 The Jaina Concept of ahimsa: an Introduction	— Narendra Kumar Dash	11
3 Some Unpublished Kannada Palm-leaf Manuscripts of Bhawan	– S. K. Jain	17
4 News and Reviews in Brief	—Arvind Kumar	22
5 Taradih-a Promising archaeological site		25
6 Muni Sri Punya Vijayji and Lalbhai Dalpatbhai institute of Indology—		27
7 Kailash Parbat (Badrinath)	—Divakar Thakur	31

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Selected Abstract of Articles From Digest of Indological Studies

– S. K Jain

1/25. Bajpai, V.K. & Srivastava M.C.—Jaina Art and Architecture of Madhya Pradesh.

PPB. VIII. Nos. 1-2, 1980, pp 37-50. Pracya Pratibha Bhopal

Madhya Pradesh is perhaps the richest state in India as the repository of Jaina art and architecture. Here is a chronological sequence based upon a critical and complete survey of Jaina art in M.P., beginning with the pre-Christian era down to the 18th century A.D. In the process the description of temples, images and sculptural pieces preserved in different museums as well as those scattered along the different sites have all been taken into account. This carefully excecuted survey throws light on the activities of Jaina art and religion which continued right from 4th century A.D. to date.—S.M.M.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

2/58. Shah, U.P. : Some Minor Jaina Deities– Matrka-s and Dikpala-s.

JMSB, ×××, No. 1. 1981, pp. 75-100 Journal of the National Academy of Administration, Mussoorie

In Jaina iconography there are several minor deities who are not worshipped in Jaina shrines but who sometimes figure in reliefs, in ceilings or on walls, pillars, architraves etc. of Jaina temples or are invoked and worshipped in Jain rituals.

According to pauranika accounts Siva created a Sakti–Yogesvari to prevent the blood of asura from falling. on the ground. Other gods headed by Visnu created their Sakti to help Siva. These seven saktis, namely Brahmani, Mahesvari Kaumari Vaisnavi Varahi, Indrani, and Camunda, are known as the Matrkas. Varahapuranuraises the number to eight by including Yogesvari in the list. In the same way the eight Matrkas are referred to in the Sarasvati-Kalpa of Bappabhatti Suri (8th cent. A.D.). In it there are two names–Candika and Mahalaksmi which are not mentioned in the list as cited above. Further, iconography of each of the Matrkas, according to Jaina sources, is given.

The worship of Dikpaelas in rituals especially the pratisthavidhi, is a common feature to both Hindu and Jaina texts of post-Gupta period. Dikpalas worshipped in the rituals and represented in Jaina temples are borrowed from Hindu traditions. – M.R G.

3/93. Kashalikar, M.J. : Concept of a Purana in Jaina Literature. JOIB, ××XI, No. 1, 1981, pp. 41-44. (Journal of Oriental Institute Baroda.

The Jaina Agamas called Jaina Prathamanuyoga contain the biographies of the Tirthankaras, the great emperors and the great men of the past. This form of literature formed the ultimate source of the Jaina Puranic literature which narrates collectively the life-stories of the sixty-three Salakapurusas or the great

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

men of the Jaina tradition. According to Acarya Jinasena, the celebrated author of Adipurana, exposition of dharma is the main purpose of a Purana which deals with five topics, viz. the description of (1) the three worlds, (2) the three parts of time, (3) the path of liberation (4) the great personages who follow the path and (5) their deeds. At another place, Jinacarya gives eight topics which form the contents of a Jaina Purana. The list shows that the Purana was considered to be almost an encyclopaedia of Jainism. As regards Mahapurana, it is called a Purana because it is a narrative of ancient period and it is called maha (great) because it relates to great personages, or because it is narrated by the great sages or because it teaches the way to grant bliss.—P.G.

4/192. Bajpai K.D. – Sravasti ka Samskrtika Gaurava (The Cultural Grandeur of Sravasti). (in Hindi).

KJIRSA, III, Nos. 1-2 1980-81, pp. 23-26.

Gives location of the old town of Sravasti as the border of the districts of Gonda-Baharaich in U.P. The access to the town is from the Balrampur Railway Station. Also discusses the antiquity of the name of the town, and assigns it to the age of the Ramayana The importance of Sravasti has been depicted in Baudha as well as Jaina literature. It was capital of the important Janapada ' Kosala '. This opinion is supported by Indian as well as foreign literary sources. Concludes that the remains of Sravasti town in the form of mounds have rich source material for the students of ancient Indian history, culture and archaeology. – N.K.S

5/196 Dwivedi, K N –Vaidika Yugina Bharatasya Bhaugolika sthitivimarsah (The Geographical Situation of India in the Vedic Age – An Analysis) (in Sanskrit).

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Śag, XXIII, No. 1, Sam. 2041, pp. 85-90.

The paper deals with the physical and cultural Geography of India in the Vedic Age as gleaned from Vedic texts. In the first part of the article. among the physical features of Vedic India three mountains (Mujavat, Saryanavat and Himavat), three deserts, seven rivers (Sindhu, Vilasta, Parusni, Asikni, Studri Sarasvati, Ganga & Yamuna), two seas Aavavat and the Paravat. are mentioned. The second part of this paper deals with the cultural Geography of the Vedic India in which the economic, political and cultural conditions are critically discussed. Ancient races of Vedic people such as Yadu. Turvasa. Druhyu, Anu, Tritsu, Paktha, Bhalanas! Visanin, Dasa, Dasyu, Asura, Pani etc. are also described.—Author.

6/205. Suryavanshi, B —Location of Lanka.

JOIB, XXXI. No. 1; 1981, pp 64-78. (Journal of Oriental Institute, Baroda.

T. Paramasiva Iyer, G. Ramdas, MV Kibe, G.N. Hiralal, H D. Sankalia and U.P Shah have worked on the problem of location of Lanka as recorded in the Ramayana. Most of these scholars have sought to abide by the conclusions of Paramasiva Iyer with a few exceptions.

The author examines these views and rejects them. He notes that Valmiki refers to the worship of non-Aryan goddess Nikumbhala in Lanka when the raksasis planned to sacrifice Sita and eat her up According to him the basic fact which has confused the whole issue is the misrepresentation of a sloka of Sundarakanda (5.2.1. critical edition). The sloka which refers to Trikuta does not give any indication of Citrakuta mountain. As. regards the location of Kiskindha. there are two categories of the Janapadas within the Vindhyas and beyond the Vindhyas. Kiskindha was situated beyond the Vindhyas. The Kiskindha of

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Mahabhasya is different from the Kiskindha of Ramayana and Mahabharata which seems to be conterminous with the Pulindas and Sabaras, In Vanaparva it has been described as adjacent to Malyavan Parvata which was the capital of Bali.

The identification of Lanka with Ceylon finds support from the geography of Suryasiddhanta wherein it is recorded that the meridian of Lanka was expressly recognised as passing over Kurukshetra and Ujjain to Meru. The island of Lanka may be placed 30 degrees along the equator.

After considering all such evidences, the author concludes that the data of the Ramayana and Mahabharata is very clear. Lanka cannot be located anywhere except in Ceylon. In Ceylonese history the Veddahs have been regarded as the oldest occupants of the island who were very powerful in the Pre-Buddha days. It has been suggested thal Ravana was perhaps a powerful Veddah ruler or an admixture of the Veddahs and other powerful civilized races—P.G.

7/2)6. Varma, K.C.—Location of Ramayanic Lanka and Ayodhya.

PPB, VII, Nos. 1-2 1979, pp. 23-48 (Pracya Pratibha, Bhopal)

The historicity of the Bharata war and the events described in the Ramayana as well as the location of Lanka and Ayodhya and the origin of the story of Rama are still controversial aud are challenging to the archaeologists and often laymen alike. Attempts in this regard, by archaeologists, and historians, are assessed, particularly those of H.D Sankalia and B. B Lal who have more confused the matter than succeeded in reaching any satisfactory solution. The method they adodt in establishing their thesis, namely co-relating archaeological findings with the traditional account, is analysed and criticised as extremely impossible in 'finding out Rama and Ravaṇa, and Ayodhya and Lanka.—S.M.M.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

8/212. Gupta. R.L.—Antiquity of Rama's Era Establshed.

PPB, IX-X, 1981-82, pp. 23-36. (Pracya Pratibha Bhopal)

Many attempts have been made in the past to determine Rama's era, but since these did not take cognisance of the time when a lakelarge enough to be referred to in the Ramayana as hundred Yojana She had actually existed in India; the results have been different from one another and also, quite, misleading. It is only when we go back to the time of lake Narmada about 320 Km. long. 64 Km. wide and at places 300 metres deep that we *can be sure about the* era's time horizon.

The Narmada lake has been believed by geologists Adyalkar and West, to have existed in mid Pleistocene to late Pleistocene time (about 500,000-20,000 years). As such it is only during this period that Rama's period can lie and not between 3000-4000 years from now as generally belleved; particulary like the hundred Yojana sea it also encircled an island which satisfies all the clues given in the Ramayana for locating Ravana's lanka. It will. of course, be necessary to re-assess the time horizon of the Aryan age in India which has been arbitrarily, fixed about 5000 years from now.—Author.

9/270. Jain, Jagdishchandra : Some Old Tales and Episodes in the Vasudevahiṇdi

ABORI, LX, Pts. 1-4, 1979, pp 167-173 (Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

Sanghadasagani Vacaka's Vasudevahindi is a Jain Version of the now-lost Brhatkatha, intermingled with religious tales and anedotes. A few popular tales and episodes of it can be compaed with Brahmanic, Buddhist and world literatures, e g. "A Quarrel Between Two Mothers (Bhaddamita Saecarakkhiyalambha).' the story of Prasannaeandra and Valkalacirin (Kahuppaṭṭi), the

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Parable of Honey-drop (Madhubindudrstanta) and the Hawk and the Dove (Keumatilambha). There are a number of tales and narratives common to Jains and Buddhists. e.g. the story of king Śoyasa, the Meat-eater (Mittasiri-Dhanasirilambha), the story of Vasudatta (Dhammillahindi) and another that of Kuberasena (Kahuppatti) which are recorded in the Vasudevahindi.

The genesis and growth of Prakrit Jain narrative literature can be comprehended from a thorough study of this oldest non-canonical work of the Jainas.—S.M.M.

10/278. Meera S.—Some Prakrit Examples of Anandavardhana and Abhinavagupta's Explanations.

AORM. XXX, Pt. 1. 1980. pp. 1-3 (Annals of Oriental Research, University of Madras, Madras.

Anandavardhana's Prakrit illustrations are rendered lucid only due to Abhinavagupta's commentary Locana. Abhinavagupta give the chaya of the veres, explains in a masterly manner the imagined contexts. Particularly the examples for vastudhvani are well explained even by givin the story context in detail. This point is carried through various citations. In some cases, it seems, that without the portrayal of Abhinavagupta. the very meaning of the verse is not easily fonud out as an ideal commentator, Abhinavagupta never loses an opportunity to make the reading of Dhvanyaloka light, rich and interesting.—P.G.

11/358. Jain, P.C.—Bhagavan Mahavira and Jainism.

Jant/JSB, XXXIII, No. 1. 1980, pp. 15-20. (Jaina Antiquary/Jaina Siddhanta Bhaskara. Arrah (Bihar).

The author gives a sketch of the life of lord Mahavira—the founder of Jain religion. He also narrates briefly the development of Jainism and tries to find out the principal factors which

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

created a distinction between Hinduism and Jainism. Non-violence, the principal aspect of Jainism, is discussed briefly in both ethically as well as metaphysically.—A.C.D.

12/368. Oliven, Curtis F.—Preception in Early Nyaya:

JIP, VI, No. 3, 1978, pp. 243;266. (Journal of Indian Philosophy, Holland.)

While treating the concept of perception as an instrument of valid cognition in early Nyaya we have to refer to Gautama's Nyayasutras and the illustrious line of commentation on it, viz. Vatsyay ana. Uddyotakara, Vacaspati and Udayana Gautama's suttra indriyarthasannikarsajanyam jnanam avyapadesyam avyabhicari vyavasayatmakam pratyaksam (1. 1. 4) has been treated at length by his successor and evidently marked by innovations and clarifications in the process. Vatsyayana's defence of it presupposes the long course of development before its aphoristic mention by Gautama. Of course in the hands of Uddyotakara, the concept attains maturity, especially because he presents for the first time a reply to his principal opponent Dinnaga.

This sutra does not restrict the causes (of perception) says Vatsyayana : !Uddyotakara observes – the purpose of (the definition) in the sutra is to distinguish (perception from) the class of simila and dissimilar objects. The six varieties of connections (sannikarsa) heve been for the first time clearly enunciated by Uddyotakara in the Nyaya tradition but the same otherwise may have originated even earlier ; Bhartrhari mentions this or the credit may go to Acarya Adhyayanapada and and Visvarupa as observed by Bhasarvajna. Uddyotakara's refutation of the view of Dinnaga on perception through the word avyabhicari later led Dharmakirti to revive the Buddhist argument. This also may be traced in Uddyotakara's refutation of the views held by Vasubandhu, Dinnaga, the Jainas. the Mimamsakas and the Samkhyas with regard to perception.—S.M.M.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

13/100. Pinuccia, Caaechi:—The Divine Presence in the Murti According to the Puranas.

Pur.,'XXIV, No. 2, 1982, pp. 261-285. (Purana, Varanasi.)

The cult of murti, which is very important in Hindu religious practices has been equated with idolatory in West for a long time. This wrong view now has largely disappeared due to the influence of enlightening studies of Coomaraswamy and others. In fact murti is not worshipped as a material object rather the Divinity is warshipped through the murti. Cult of Divinity is invoked in the image through the rites of avahana and removed from it through visarjana. Invocation (avahana) and dismissal (visarjana) are throught to effect a mystical change in the murti. This change has bean interpreted by scholars like Avalon and Coomaraswamy just as a device to hold devotion during worship.

In such Puranic texts as Visnudharmottara Purana, Visnu Purana, Bhagavata Purana, Parama Samhita Garuda Purana Prosna, Samhita there are passages which support the view of Coomarsswamy and Avalon

Worshipping the murti can be compared with learning the alphabet which must precede the overall comprehasion of a text, in the same way one starts worshipping God in His different images. The devotee uses the murti because he needs this mean of reaching the highest stage in which he sees Him as the Atman present in all beings.

Generally it is not the Supreme Brahman who is invoked to be present in the pratima because of His avyakta, nirguna and amurta character but gods like Siva descend into the murti by their own siddhis The Supreme Lord can be identified alternatly with Siva Visnu the istadeva to whom devotee's devotion is turned. It is here we really visualize the basis from which

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

the faith in God's presence in murti fins. its justification and when the term murti is connected with avatara. In this case also not Brahman but Isvara, who give rise to the world, supports it and destroys it, manifests Himself in the avataras. Th s has been discussed in detail in the Puranas.

Here in this paper the terms avahana, visarjana, prana pratiṣṭhā, cala acala murties, nyasa, adhivasa and the related topics have been discussed,—A.D.W.

14/375. Sharma, Arvind—Jainsim and Purvamimams ; A Steilological Comparison.

JAnt/JSB, XXXIII, No. 2, 1980, pp. 1-7. (Jain Antiquary) Arrah (Bihar).

The author produces a comparative study of the methods advocated by Jainism and Purvamimāmsa for attainment of moksa. According to Jainism, the main goal of lite can be achieved by destroying accumulation of karman through certain religious practices and austeritics. According to Purvamimamsa, moksa can be attained by producing dharma through observance of Vedic rituals which are a meritorious type of karman. Though the assumption of karman, in these two philosophical schools, is different and the manner by which the karman that necessarily binds a parson is dissolved also differs, yet the Concept of consequence of accumulation as well as of dissolution of karman appears to be the same in both of these schools.—A.C.D.

15/380. Tiwary: V.K.—Parsvanatha and Jainism.

JAnt/JSB. XXXIII. No. 1, 1980, pp. 31-4o. (Jain Antiquary)

The scholar tris, in this paper, to establish the historicity

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

of Parsvanatha,' one of the twenty-four Tirthankaras who are generaly believed, to be mythological figures. Secondly, he gives a brief account of Parsvanatha's birth, marriage, renunciation, enlightenment, establishment of a big institution of proto-Jainism, known as Sacela-dharma, which is very similar to the preachings of Mahavira. The auther tries to prove these aspects through a number of sources which include both oriental as well as oceidental testimonies. In addition to this, the scholar has attempted to trace the geographical area which might have been under influence of Jainism preached by Parsvanatha.—A. C. D.

16 / 389 Jain, R. K.—Ristasamuccaya men Ayurveda Sambandhi Visaya (Ayurvedic matter in Ristesamuccaya) (in Hindi). JJVB. VII. Nos. 3-4, 1981. pp 7-15. (gournal Jain Vishwabharch vadanu)

The author gives a brief account of such matters as generally come under Ayurveda, the Indian system of medicine. Some of such propositions are occasionaly prescribed in Ristasamuccaya literally meaning symptoms pointing to death, Paradoxically, this Jain treatise by Acarya Durgadeva III a discipte of Sathyamadeva of Digambara Jain tradition purely deals with astrology—A. C. D.

Note:—The above abstract is from the Digest of Indological studies (1984–85) Published in 1988.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

" The Jaina concept of *ahimsa* : an Int roduction "

—Narendra Kumar Dash.

Ahimsa (or non-violence) is undoubtly the central theme of Buddhism and Jainism. In Brahmanical cults, the principle of *ahimsa* was developed during the later vedic period (1000 B. C.-600 B. C.)[1]. That is why as early as the period of the Atharva-veda, there were already people who looked with disfavour upon meat as the food, because it involved killing of animals[2]. During the time of upanisadas, the idea of *ahimsa* had become quite familiar and therefore, the *chandogya*-*uupanisada* mentions it among five cardinal virtues[3]. The *Bhagavat-gita*, the great scripture of *Vaisnavism*, recounts a number of qualities and *ahimsa* is vital among them[4].

In Jain literature, the word *dharmah* is synonymous with *ahimsa*. *Jain-dharmah* is identical with *ahimsa*-*dharmah* and therefore, *ahimsa* may be called as the beginning and end of Jain religion[5]. The author of *Srtakrtanga* advises us to regard *ahimsa* as the quintessence of wisdom[6] and the author of Jaina-darsana *sara*, chainsukhdas, describes it as the origin of all the

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

good virtues like tapah (or an austere vow); srutah (or sacred knowledge), Jnana (or good knowledge), dhyana (or meditation). dana (or gift) and satya (or reality) &[7] . The primacy of ahimsa lies at the very root of Jainism : daya muludhammdohaka anghivaha as the S' ravaka-dharma says[8] According to Hemachandra, ahimsa or daya is the benificent mother of all beings. The author of Tattvartha-dhigama sutram, also opines that ahimsa is compounded of Maitri (or friendliness), pramoda (or happiness). Karunya [or compassion] and madhyastha [or equinity[9]. Now we may say that Nirvana is nothing else than ahimsa.

The followers of Jainism believe that the word ahimsa is a negative word[10]. it indicates the negation of that which is unnatural as against that which is natural It means non-violence is the negation of the unnatural and at the same time affirmation of that which is natural.

This negative approach of Jainism is peculiar. On the other hand, the positive term like love and compassion have been preferred in Buddhism. The negative approach asserts that we can not speak of the positive aspect of love in our present state of mental make-up. We like a life. without a teste of that of what is natural. Unfamiliar as we are with the positive term; we are likely to be misguided This emphasis on negative terms, however, should never be take to mean that the Jainas conceived of non-violence as a valid state of mind, where there is no love.

Some other believe that non-violence is not something negative but another aspect of daya [or compassion]; a counterpart of Buddhist karuna. This positive ahimsa expressed in the form of karunadana or abhayadana, giving protection to all living creatures[11] .

In Jainism, ahimsa may be sub-divided into bhavahimsa (or violence in thought) and dravya-himsa (or violence in physical action)[12]. It is the former violence which is the real vio

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

lence (nis - caya himsa). Therfore, mere physical taking away of life does not constitute complete definition of violence We have to leave out himsa both physically and mentally to have happiness through non-violenc[13]. Therefore non-killing must be observed in thought word and deed. The mere thought of killing as much immoral as actually killing. Hence, according to Jain followers, the principle of ahimsa naturally implies purity of thought, word and deed.

Now, it maynot be out of contezt to montion that in Jainism ahimsa-vrata (or vow of non-violence) is compulsory for all of its followers including house-holders and ascetics. These vows, as applied to house-holders and ascetics, are called aṇu-vrata and maha-vrata respectively[14]. According to striet derivation of these two terms, we may say that the vow of non-violence was not so strictly followed by the house holders against the ascetics.

Thougb we have plainty references in the Brahmanical literature to ahimsa[15], still large Brahmanical cults glorified the institution of Killing and for the first time Buddhist and Jainas protested against the inhuman deed. However, in Jainism the concept of ahimsa was highly developed and became the chief theme of Jain religion. Jain Monks could not understand how the Gods could seek satisfaction from such deeds which caused unbearable pain to the animals. They realised, it is only through ahimsa one can purify one's bhavas and curb his passion and therefore the Jain Monks regarded this as the first and foremost vow.

Senior Research Fellow
Department of Sanskrit
Visva-Bharati
Santiniketan-731235

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

REFERENCES :

1. See : Roy, B.R: The latter vedic Economy (table of chronology); Patna: 1984.

2. Cf:
Yatha mamsam yatha sura yathaksa adhidevano/
Yatha pumso vrsanyata striyam nihanyate manah//
Av. 11, 70-1; (Vol. 1, Bareli: 1962, P.300)

3. Cf;
atha yat-tapo danam-arjavam-ahimsa satyavacanam-ctita asya daksinah/
(111/17-4); (108 Upanisadas (Jnanakhanda); Bareli; P.239),

4. abhayam sattvasam s'uddhir-jnana-yoga-thitib/
danam damas-ca yanjas-ca svadhyayas-tapa arjavam//
ahimsa satyam-akrodhas-tyagah śantir-upaisunam/
daya bhutesv-aloluptam mardavam hiracapalam//
tejah sama dhrtih saucam-adroho natimanita/
bhavanti sampadam daivim-abhaijatasya bharata//
Bhagavatgita 16, 1-3.

5. cf; .... the ethical highest good also finds its expression in the realisation of Perfect ahimsa. Ahimsa is also central in Jainism that it may be incontrovertibly called the beginning and the end of Jain religion.

Sogani K.C; Ethical Doctrines In Jainism; (Sholapur: 1967) PP. 41-42

6. cf: " This is the quitessence of wisdom : not to kill anything. Know this to be the legitimate conclusion from the principle of the reciprocity with regard to non-killing ".
S B. E. Ed. by F. Max Muller: Vol. 45, Pt. II 1964 P. 311 and this has been supported by the verse I, 1, 4 and 10; PP. 247-48.

7. cf: Jainadarsana Sara: (Verse-5; Jaipur; 1950): P. 65.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

8. See; Sravaka-dharma dohaka; doha no. 40.

9. cf; maitri-pramoda-karunyamadhyasthani sattvagunadhikaklis'yamana vinayesu/
Tattvarthadhigama sutram; VII. 6.

10. cf; himsaya abhavarupahy-ahimsa; Jainadars'ana Sara; P. 59
also cf; na himsa'himsa; ni. cu. 2 U /
prana-viyoga-prayojana-vyaparabhave/
Abhidhanarajendrah; Vol. I; P. 871,

11. See : for details; R. William's Jaina Yoga; London, 1963.

12. See : the above; P. 66.

13. cf; savve akakantaduhkhaya ao savve ahimsiya; Sutrakrtangah; 1, 4, 9.

14. See : Jaina Yoga; P, 64.

15. cf; ahimsaiva bhutanam kayam 'śreyo'nus'asanam/
Manu; 11. 159 and also cf; ahimsa paramo dharmah/
Mahabharata; XIII, 116, 25.

Dr. Narender Kumar Dass
A/3. Vidya Bhawan Hostel
Shantiniketan-731235

—:o:—

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Some Unpublished Kannada Palm-leaf Manuscripts of Bhawan.

—S.K. Jain

This is for our record that the following Palm-leaf Manuscripts, which are in the library of Sri Jain Sidhant Bhawan, Arrah. were microfilmed by the Institute of Kannad Studies in the year 1975. This Institute is functioning under the Mysore University.

It was Promised to us that free copies of microfilms would be supplied to us for our Library, but most unfortunately in spite of our repeated reminders to them, we have not received the Microfilms. We have now written to the Vice-Chancellor of the Mysore University to intervene and be helpful in this matter. The matter is very important. We were told that the manuscripts were still unpublished and on unpublication we would be informed about the publication and would be also suplied with free copies of the books published. We do not know what is the position and we await to hear from them about this matter.

Following is the list of the Manuscripts and details there of-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

LIST of Kannada Manuscripts Microfilmed at Arrah, (BIHAR) in 1975

	FILM No.	Title	Author	No.	Leaves	Language	Material
	1	2	3	4	5	6	7
1	No. 2015	Vaidhya Sangraha,	?	206	41	Kannada	Palm
2	No. 2016	Vikramaajuna Vijayam	Pampa	211	1-147+13	,,	,,
3	,, 2017	Vaddaradhane,	Shivakoa-		180	-do-	,,
4	,, 2018	Chavundarayurana,	Chavundarayat	284	164	-Do-	,,
5	,, 2019	Pancha Thanthra,	Dhurgasimba,	137/1	78	-do-	,,
6	,, 2020	Haradha Neethi	Simharaja	137/2	4	,,	,,
7	,, 2021	Parshwanatha charitam,	Snahthikrti,	281	129-160	-do-	,,
8	,, 2022	Dharmamrutha.	Nayasena.	218	149-249	,,	,,
9	,, 2023	Padhamavathikalpa, (Manthra, Thantra)	?	289	176	,,	,,
10	,, 2024	Chandraabhapurana,	Aggala,	286	147	,,	,,
11	,, 2025	Tattwarthasutra	Vyakana, Diwakarmuoi,	198	235	-do-	Paper
12	,, 2026	Commatasara-Karnataka Vrutti-Jivakanda.	Keshavanna	228	354	,,	,,
13	,, 2027	Commatasara-Karmakandr, Kannada teeku.	-do-	232	431	-Do-	,,
14	,, 2028	Ekathwasapthati	?	250/1	164-190	-do-	,,
15	,, 2029	Swarupa Sambodhana,	?	250/2	191-197	,	,,
16	,, 2030	Udhyogasara	?	250/3	157-181	,,	,,
17	,, 2031	Siddhantasarr,	?	250/4	40	,,	,,
18	,, 2032	Iravatha,	?	238/1	22	,,	,
19	,, 2033	Bharatheswara Nadhyagalu,	?	238/2	23--36	,,	,,
20	,, 2034	Shavakachara,	?	238/3	37--43	,,	,,
21	,, 2035	Patahastha,	?	238/4	44—48	-Do-	,,
22	,, 2036	Hosadha charite,	?	238/5	49—58	,,	,,
23	,, 2037	Bedana charite,	?	238/6	59—66	,,	,,
24	,, 2038	Yashodhara charithe,	Nemenna	238/7	67--78	,,	,,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

1	2	3	4	5	6	7
25 No. 2039	Panchatantra.	?	231/8	10-114	,,	;,
26 ,, 2040	Dhanyakumara charite	?	238/9	167-183	-do-	,,
27 ,, 2041	Vistharasathwa Vyakyana	?	228/1	1--39	,,	,,
28 .. 2042	Karma Prakruthi,	?	228-2	41	Kannada	,
29 ,; 2043	Vimshathi Praroopane Kannada teeku.	?	230-1	1-146+1	,,	,,
30 ., 2044	Munisuvratha Kavya,	?	238-148		,,	,,
31 ,. 2045	Thribhangi Vyakyana	?	230/2	147	;.	,,
32 ,. 2046	Haradha Neethi	Simharja	20	13	,.	Palm.
33 .. 2047	Shravakachara:	?	15	37-68	;,	;;
34 ,, 2348	Nagakumar charitam; (Panikumar ,,)	Kalyana-keerthi.	37	1-65	,,	,.
35 .. 2049	Chandhanambike Kathe : (Poetry)	?	17	1-23	,.	..
36 ,. 2050	Yogamrutha.	Veerasene	67	1--5	.,	,,
37 ,. 2051	Bala Vaidhya.	Devendrakumar,	44	?-97	,,	.,
38 ,, 2052	Vasanthathilake Kathe (Poetry)	?	21	1--4	,,	,.
39 .. 2053	Kalyanakarakas	Jagaddhala Somanatha.	54/1	1-44	,,	,,
40 ., 2054	Kagendramani Dharpana.	Mangaraja	54/2	44-149+3	,,	,
41 ,, 2055	Chathurbhandha;	?	51	1-12	,,	;;
42 ,. 2056	Athmanushasana : Kan.-teeku.	?	18	1-128	;;	;;
43 ;; 2057	Jyothisha Grantha;	?	35	1-73	;;	;;
44 ;: 2058	Sakalagamasar; (Kan. teeku)	?	66/1	1-77	;;	;;
45 .. 2059	Paramathma Jyothi;	?		66/	10-16	
46 .. 2060	Panchaparamestegala Vyakyana	?		66/3	1-27	
47 .i 2061	Yashodhara Charitam;	Kalyana Keerthi.		64	1-80	

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

FILM No.		Title	Author	No.	Leaves	Language	Material
1		2		3	4	5	6 7
48	No. 2062	Lokopakara,	Chavundaraya,	10	1-98	Kannada	Palm
49	,, 2063	Vruttharathanakara, (Kannada-tecku)	?	57	25-46	,,	,,
50	,, 2064	Dharmamrutha.	Nayasena.	108	1-201	,,	,,
51	,, 2065	Acharasara (Kannada steeku)	?	110	1-179	,,	,,
52	,, 2066	Shanthinathapurana	Ponna,	111	1-140	,,	,,
53	,, 2067	Chikkashravakachara,	?	85/1	17-26	,,	,,
54	,, 2068	Supashastra.	Mangarasa,	85/2	30-72	,,	,,
55	,, 2069	Purudeva charitam,	Shanthakirti,	100/1	1-76	,,	,,
56	,, 2070	Shanteeswara charitam.	,,	100/2	77-128	,,	,,
57	,, 2071	Samyukthva Kowmudhi,	Mangarasa	88	1--88	,,	,,
58	,, 2072	Kalyanakaraka,	Jagaddhala Somanatha.	114/1	1-40	,,	,,
59	,, 2073	Vaidhyamrutha,	?	114/2	1-53 8	,,	,,
60	,, 2074	Vaddaradhane,	Shivakotyacharya:	89	1-88	,,	,,
61	,, 2075	Yashodharacharitam,	Vasavasena,	82	1-44	,,	,,
62	,, 2o76	Chandhanambikeya, Kathe (Poetry)	?	164	1-8	,,	,,
63	,, 2077	Hosadha charitam,	?	134/1	1-7	,,	,,
64	,, 2078	Ahimsa charitem,	?	134/2	7-10	,,	,,
65	,, 2079	Chinmaya chinthamani,	Kalyanakeerthi,	147/1	60-65	,,	,,
66	,, 2080	Siddharashi,	,,	147/2	65-69	,,	,,
67	,, 2081	Adhiswara Jhanmabisheka (Poetry)	?	98	2-26	,,	,,
68	,, 2081	Munisavrutha Vyakyana (Kan. teeku)	Aahardhasa	76	34-139	,,	,,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

1	2	3	4	5	6	7
69 No.	2083 Rathnakashravakachara;	Samanthabhadhra.	81/1	13-51	,,	,,
70 ,,	2084 Loka Swaroopa.	?	81/2	1-61	,,	,,
71 ,,	2085 Dwadhashanuprekshe,	Vijayanna;	171	1-47	,,	,,
72 ,,	2086 Dharmaparikshe,	Vruthavilasa,	149	1-107	,,	,,
73 ..	2o87 Nagakumara charite.	Bhahubali,	199	1-126	;;	;;
74 ,,	2088 Neminathapurana, (Ardhaneminathapurana)	Nemichandra,	91	1-41	,,	,,
75 ,,	2089 Shathasloka; (Yogashathabandha)	(Viadhya)	83	1-28	,,	;:
76 ,,	2o9o Nanartharathnakara (Nigantu)		116	1-71	;;	;;
77 ,,	2o91 Mallinathapurana	—	168	1-128	;;	;;
78 ,,	2o92 Abhidhana Vasthukosha; 2nd (Nagavarma Nigantu)	Nagavarme,	103	1-175	,,	,,

—;o:—

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

NEWS AND REVIEWS IN BRIEF

—Arvind Kumar

—The noted industrialist and social worker of Bombay. Srimati SARYU DAFTARY WAS CONFERRED THE TITLE OF—" JAIN RATNA " at Ladnu under the chairmanship of Acharya Tulsi for her efforts in favour of Vegetarianism.

Acharya Tulsi and Yvacharya Mahapragya addressed the gathering.

—National Prakrit Conference is shedued to be held at Banglore in oct, 90 under the auspicies of Prakrit Gyan Bharti Education Trust. Dr. Prem Suman Jain is the working director and Dr. T. G. Kalghatji is the Director. Invitation are being issued to noted scholars who have already submitted their Research Papers. Please contact Dr; H. Nagrajayya Gen, Secretary 1079, 5th Block Rajaji Nagar Banglore—560010, Those scholars who have not so far submitted their Research Papers may please do so now.

—Sri Mahavir Shashan have sent their special issue year 38-5 Published in attractive colorful,

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

final Pictures covering the Pratishtha functions at Varanshinagar Sri Nemishwer Teerth Taluka Sayla, P.o. Dolia, D. Surendra Nagar; Script *is in Gujrati* and it is very well writtien, edited and printed. We compliment the editor and Publishers for the Job very well done, which is bound to leave a lifelong impression specially on those who had the good fortune of attending this mahotsava.

—LAKSHMI CHANDJI HONOURED

New Delhi—Sri Lakshmi Chand Jain former Director of Bhartiya Gyanpith New Delhi has been honoured by. National Hindi Academy at special function in New Delhi for his special contribution to Hindi Journalism.

—World Anti—Tobaco Day

Since 1988 the 1st June is observed by the W.H.O. (World Health Organisation) as Anti tobacco Day. Every Government and the people speak through Radio and T.V. against the use of tobacco and tell the people not to smoke

—ARRAH—Rajgir Celebrate Shrut Panchmi

Sri Jain Sidhant Bhawan Arrah (Bihar) and Digamber Jain Saraswati Bhawan *Rajgir (Bihar)* celebrated the function with Bhajan Poojan, Prayers and exhibition of recently published Books on Jainism, Exhition of Jain Fine Arts. was also arranged the latter under the auspicious of N.K-C.K. Jain Gallary of Art. Shrut Panchami is celebrated in Commemoration of the 5th day of the moon of the Indian Calender Jate shukla, Paksh every year. On this day Acharya Bhootbadi and Puspadant completed writing of Jain scriptures as spoken by loard Mahavir about 2600 years ago and verbally conveyed to them by their Guru Acharya Dharsana

—N.K-C.K. Jain Gallary of Art Arrah (India) is the only

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

one of its kind which contains old colourful paintings depicting Jain Art and culture. This gallery is adding to its treasure Paintings by modern artists every year.

Jain Patrakar.

Jain Journalism is 150 years old and 400 Jain News Papers and Magazines are being published in languages in India and abroad. A conference of the editors of these Journals has been organised at Kalikunda Teerth. Organisor is Sri Geeta Jain,12 Heera Bhawan U.P. Road. Mulund (west) Bombay, 400080. 15th to 17th June 1990 are the dates.

-)o:—:o(-

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Taradih-a promising archaeological site

Bodh Gaya is the only site in the country which yielded material right from the neolithic period down to the Pala period without any cultural break, according to Mr. Ajit Kumar Prasad, excavation officer, directorate of state archaeology, government of Bihar.

Delivering a talk on the "Archaeological excavations at Taradih-Bodh Gaya" under the auspices of the Bihar Puravid Parishad here on Monday, Mr. Prasad also pointed out that recent archaeological excavations proved that Bodh Gaya was a flourishing village not only during Buddha but also 2,000 years before him when metal was not known to the people.

He further said thatin recent years, Taradih,a locality south-west to the famous Mahabodhi temple of Bodh Gaya, had also come forward as a promising archaeological site with an entirely new dimension. The excavations have also revealed seven cultural periods, he added.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

The director, museums. Bihar, Dr. Naseem Akhter. in his presidential address also highlighted the importance of the site and stressed tne need for further selenlific exeavation of the entire

Dr. Akhtar also pointed out that the further excavations of the enter site would certainly reveal the importance of the site in the archaeological mop of the country.

Dr. Kameshwer Prasad, department of histoıy, Patna University, in his welcome addtess also threw light on the topic. Dr. B.K. Jamuar, department of ancient Indian History and archaeology, Patna University, proposed a vote of thanks.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Muni Sri Punya Vijyaji and Lalbhai Dalpatbhai institute of Indology

Agamaprabhakara Muni Shri Punyavijayji Maharaj, a revered Jain sadhu, was an erudite scholar and a dedicated researcher. In the course of his frequent travels through Gujarat and Rajasthan, he discovered that numerous ancient and invaluable manuscripts in the various Jaina bhandaras were facing the prospect of getting irreparably damaged and needed careful preservation and cataloguing. He, therefore, madc it his life's mission to ensure that the priceless heritage of manuscripts was properly preserved, studied and made available to scholers. With this objective in view, he scientifically reorganised several bhandaras and catelogued their collections. Moreover he acquired numerous manuscripts from various sources where proper facilities for their preservation did not exist. As; such collections grew, he became increasingly aware of the need for a suitable place where these rare and ancient manuscripts, couid not only be housed and properl y taken

Ac. Gunratnasuri MS
Jin Gun Aradhak Trust

care of, but also studied in depth and be made available to scholars for reference and research.

Shri Kasturbhai Lalbhai, himself a devout Jain, had great respect and regard for Muni Shri Punyavijayji and was closely associated with him. It was but natural, that Muni Shri should speak out his mind to Shri Kasturbhai on the urgent need for setting up an institution for the preservation of manuscripts and their use for research.

Shri Kasturbhai, a man of rare foresight, with wide ranging interests and one who had been instrumental in promoting and setting up of numerous educational institutions in Gujarat, took this idea to heart and this meeting of minds resulted in the founding of the Lalbhai Dalpatbhai institute of indology in 1957.

Shri Kasturbhai with the whole hearted support of his family mambers came forward with a handsome donation. Muni Shri Punyavijayji most graciously entrusted to his care over 10,000 rare manuscripts, many of them illustrated, and over 7,000 rare books which formed the nucleus of the L.D. institute of indology's collection.

An aesthetically beautiful building designed by an internationally reputed architech Shri B.V. Doshi was put up at a cost of Rs. 9 lacs and stands amidst sylvan surroundings. It was inaugurated by the then Prime Minister Pandit Jawaharlal Nehru in 1963

The main objectives of the Institute of Indology are :

(i) to collect and preserve ancient manuscripts so that the invaluable treasures of the past are not lost to posterity.

(ii) to provide facilities to scholars for study and research in Indology, and

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

(iii) to undertake publication of critical editions of unpublished manuscripts and the outcome of research and study undertaken by scholars.

The Institute is recognised by the Gujarat University as a research centre for promoting doctoral and post-doctoral studies carried out by scholars in Sanskrit, Prakrit and Ancient Indian Culture. A well equipped reference library is at the disposal of research scholars and others.

The Institute has in its possession a rich collection of nearly 75,000 rare monuscripts including a substantial number received as gift and for the purposes of preservation and custody. The collection covers a wide range of subject such as the Vedas, the Agamas, Tantras. Jaina Darshana; Systems of Indian Philosophy, Grammer, Prosody, Poetics, Lexicography, medicine etc. These are in Sanskrit; Prakrit, Apabhramsa, Old Gujarati, Hindi and Rajasthani. A substantial number carry colour illustrations.

Publication of Descriptive Catelogues—

The Manuscript Department of the Institute has already published catalogues enlisting over 10.000 Sanskrit and Prakrit manuscripts. A catalogue enlisting over 6 700 entries comprising Muni Shri Punyavijayji's collection of manuscripts in old Gujarati has also been published.

Microfilms and Transparencies—

Custodians or owners of rare manuscripts are seldom willing to part with their invaluable treasures, but have been gracious enough, to allow the Institute to microfilm the manuscripts and make colour transparencies of the illustrations. Institute has in its possession. Presently, the 2000 microfilms of manuscripts and 4800 transparencies.

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

Antiquities —

Antiquities in the Institute's possession number 3187 and include sculptures in metal and stone, wood-work, copper plates. Vijnaptipatras, patas and paintings.

Library –

The Institute has a rich collection of over 29,000 books on Indology and other related subject including some very rare books ont available elsewhere.

Publications—

The institute has to its credit, about a hundred 'publication including commentaries and critical studies, dictionaries an catelogues. The Institut also publishes its own research journa SAMBODHI.

Seminars end Lectures—

Periodically, the institute orranges seminars and ectures on Indological subjects.

The rich and rare collection of illustrated manuscripts miniature paintings, paints Patas sculpturcs, bronzes and wood-work in the possession of the Lalbhai Dalpatbhai institute of indology forms the nucleus of the objects on display at the museum.

To commemorate the invaluable services rendered by Mun Shri Punyavijayji to the cause of preservation and publication o rare manuscripts, a gallery in the museum has been namec after him.

—:o:—

Ac. Gunratnasuri MS Jin Gun Aradhak Trust

धर्म ज्ञान न होता है, क्योंकि, धर्म न जाने कुछ भी।
ततः 'ज्ञान अन्य, धर्म अन्य'–जिन कहे ॥३९८॥
ज्ञान अधर्म न होता है, क्योंकि, अधर्म न जाने कुछ भी।
ततः 'ज्ञान अन्य, अधर्म अन्य'–जिन कहे ॥३९९॥
काल ज्ञान न होता है, क्योंकि, काल न जाने कुछ भी।
ततः 'ज्ञान अन्य, काल अन्य'–जिन कहे ॥४००॥
आकाश भी न ज्ञान, क्योंकि, नभ न जाने कुछ भी।
ततः 'नभ अन्य, ज्ञान अन्य–जिन कहे ॥४०१॥
न अध्यवसान ज्ञान, अध्यवसान अचेता क्योंकि।
ततः ज्ञान अन्य, अध्यवसान भी अन्य है ॥४०२॥
क्योंकि जानता नित्य ततः जीवही ज्ञायक, ज्ञानी।
ज्ञान भी ज्ञायक से अभिन्न है, जान लो यह ॥४०३॥
ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि, संयम, सूत्र-अंग-पूर्व गत।
'धर्म अधर्म तथा प्रवज्या' माने यह ज्ञानी ॥४०४॥
आत्मा जो अमूर्त, नहीं सो आहारक होता है ऐसे।
आहार मूर्तिक है क्योंकि वो पुद्गल मय ही ॥४०५॥
नहीं शक्य ग्रहण जो, न विमुक्त जो, वा जो पर द्रव्य।
सो कोई उसका गुण, प्रयोगिक वा वैस्रसिक ॥४०६॥
ततः जो विशुद्ध चेता सो नहीं गहता कुछ भी।
नहीं छोड़ता है कुछ भी, जीव अजीव द्रव्यों को ॥४०७॥
पाखंडी लिंग वा गृह लिंग जो है बहुत प्रकार के।
धार के बोले मूढ़—'लिंग यह मोक्ष मार्ग है' ॥४०८॥
नहीं होता मोक्षमार्ग लिंग, यत् देह निर्ममत्व अर्हत।
लिंग मुक्त हो, दर्शन, ज्ञान-चारित्र सेवते हैं ॥४०९॥
नहीं है यह मोक्ष मार्ग, पाखंडी–गृहस्थ-लिंग सभी।
'दर्शन-ज्ञान-चरित मोक्ष मार्ग है'– जिन कहे ॥४१०॥
ततः छोड़ के लिंग सागार–अनागारों के गहे हुए।
दर्शन-ज्ञान-चरित में आत्मा जोड़ो, मोक्ष पथे ॥४११॥
मोक्ष पथ में आत्मा ठहराके उसी को ध्याओ चेतो।
उसी में विरत नित्य, मत विहरो अन्य द्रव्यों में ॥४१२॥
पाखंडी लिंगों में, वा गृह लिंगों में बहु प्रकार वाले।
करे जो ममता, उनने न जाना समय सार ॥४१३॥
व्यवहार का जो है नय, दोनों ही लिंगों को कहता मोक्ष पथ।
निश्चय नयन न मानता मोक्ष पथ सभी लिंगों को ॥४१४॥
जो 'समय पाहुड' यह पढ़कर अर्थ-तत्व से जाने।
अर्थ में स्थायी चेता सो हो उत्तम सुखी ॥४१५॥

Ac. Gunratnasuri MS
Jin Gun Aradhak Trust

Ac. Gunratnasuri MS

Jin Gun Aradhak Trust